सम्पादकीय

घृणा की राजनीति : सवाल विचारधारा का ही है

हमारा देश एक विकट अफरातफरी और अराजकता की गिरफ्त में है। चार साल पहले भाजपा गठबन्धन सरकार के सत्ता में आने के बाद से देश का चौतरफा संकट गहराता जा रहा है। महँगाई, बेरोजगारी, भुखमरी और बदहाली लगातार बढ़ती जा रही है। सामाजिक ताना-बाना तनावग्रस्त है और छिन्न-भिन्न होने की ओर बढ़ रहा है। साम्प्रदायिक-जातीय तनाव, फूटपरस्ती और नफरत का जहरीला वातावरण तैयार किया जा रहा है तथा इस मुहिम में मीडिया, सोशल मीडिया और सत्ताधारी पार्टी के छोटे-बड़े नेता बढ़-चढ़कर भूमिका निभा रहे हैं। नरेन्द्र दाभोलकर, गोविन्द पनसरे, प्रोफेसर कुलबर्गी और गोरी लंकेश जैसे प्रसिद्ध जनपक्षधर बुद्धिजीवियों की हत्या, गोरक्षा के नाम पर शासन-प्रशासन की शह पर मुस्लिमों और दलितों की गिरोह द्वारा पीट-पीट कर हत्या, अपने तमाम विरोधियों को राष्ट्रविरोधी बताकर उन्हें देशद्रोह के मुकदमे में जेल भेजना, विरोधी पार्टी के नेताओं और वैचारिक विरोधियों के खिलाफ जाँच एजेन्सियों को पीछे लगाना, दंगे और आतंकी कार्रवाई में नामजद अपने लोगों को बरी कराना तथा लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और अभिव्यक्ति की आजादी जैसे मूल्यों की धज्जी उड़ाया जाना लगातार जारी है। हिन्दुत्व और हिन्दू राष्ट्र के नाम पर अतार्किक और समाज को पीछे ले जाने वाली मूल्य-मान्यताओं और रूढ़िवादी विचारों को बढ़ावा दिया जा रहा है। पहले भी इस तरह की छिटपुट घटनाएँ होती थीं, लेकिन अब ऐसा कोई दिन नहीं होता, जब ऐसी मनहूस खबरें अखबार के पन्नों और मीडिया की सुर्खियों में न रहती हों। लगता है, जैसे हमारे देश में जनमानस के एक बड़े हिस्से को एक ऐसी मनोव्याधि की ओर, एक मास हिस्टीरिया की ओर धकेल दिया गया हो, जहाँ उनकी अपनी जिन्दगी की दिन-ब-दिन गहराती समस्याएँ और चिन्ताएँ विवेकहीन, विनाशक और हवाई मुद्दों के शोर-शराबे में गायब हो गयी हों।

2014 में भाजपा हिन्दूराष्ट्र के नाम पर नहीं, बल्कि भ्रष्टाचार, कालाधन, महँगाई और बेरोजगारी मिटाने, देश की सभी समस्याओं का समाधान करने का वादा करके सत्ता में आयी थी। मनमोहन सरकार के दौरान कोयला घोटाला, टेलीकॉम घोटाला और राष्ट्रमण्डल खेल घोटाला जैसे भ्रष्टाचार के नये-नये मामलों से लोगों में काफी आक्रोश पैदा हुआ था। भ्रष्टाचार के खिलाफ अन्ना आन्दोलन में लोगों की बढ़-चढ़कर भागीदारी को भुनाते हुए, भाजपा ने भी भ्रष्टाचार मुक्त भारत का नारा दिया। साथ ही कांग्रेस की नवउदारवादी नीतियों-- निजीकरण, उदारीकरण के चलते लोगों की जिन्दगी बद से बदतर होती जा रही थी। महँगाई, बेरोजगारी, छँटनी-तालाबन्दी से लोग त्रस्त थे। किसान-मजदूर आत्महत्या कर रहे थे। ऐसे में जब नरेन्द्र मोदी की विकास पुरुष और करिश्माई व्यक्तित्व की छवि बनायी गयी तो हताश-निराश लोगों के मन में एक उम्मीद जगी। चुनावी रैलियों और मीडिया में विज्ञापन के जरिये भाजपा ने वादों की झड़ी लगा दी। विदेशों से काला धन वापस लाना, 24 घण्टे बिजली-पानी, फसलों के वाजिब दाम, हर साल दो करोड़ रोजगार, महँगाई पर रोक, अर्थव्यवस्था के विकास में तेजी लाना, टैक्स आतंकवाद खत्म करना, महिलाओं को सुरक्षा की गारंटी, इत्यादि पिछले चार सालों में इन वादों का देश भर जो मजाक बना वह किसी से छिपा नहीं है।

'अच्छे दिन' के इन लुभावने नारों के साथ-साथ भाजपा की जीत के दो अन्य महत्त्वपूर्ण कारण थे। पहला, सभी पार्टियों के पदलोलुप और दलबदलू नेताओं की भाजपा में भर्ती और अपने स्थापित नेताओं को किनारे करके अवसरवादी तरीके से दलबदलू नेताओं को टिकट देना, जिसके चलते सौ से ज्यादा गैर भाजपा सांसद भाजपा के टिकट पर जीतकर संसद में आये। दूसरा, मुजफ्फरनगर और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कई अन्य जिलों में योजनाबद्ध तरीके से कराये गये हिन्दू-मुस्लिम दंगे, जिनके बारे में खुद भाजपा नेताओं ने खुलेआम स्वीकार किया था कि इससे उन्हें चुनाव में लाभ मिलेगा और मिला भी। इस तरह भाजपा को चुनाव में बहुमत हासिल हुआ। नरेन्द्र मोदी प्रधानमंत्री बने, अमितशाह को पार्टी अध्यक्ष बनाया और उन पर चल रहे अपराधिक मुकदमें खत्म कराये।

सत्ता में आते ही मोदी-शाह की जोड़ी ने एक तरफ देशी-विदेशी पूँजी की बेलगाम लूट को जारी रखने वाली नवउदारवादी नीतियों को मनमोहन सिंह से भी तेज और आक्रामक तरीके से लागू किया तथा दूसरी ओर संघ के हिन्दुत्ववादी-फासीवादी एजेण्डे को बढ़-चढ़कर आगे बढ़ाना शुरू किया। दरअसल नवउदारवादी नीतियाँ और साम्प्रदायिक फासीवाद दोनों ही एक-दूसरे के सहायक और पूरक हैं। कारण यह कि लगातार संकट के भँवर में फँसता भारतीय

पूँजीवाद अपने इस विकट दौर में अपने ऊपर किसी भी तरह की पाबन्दी और अंकुश बर्दाश्त नहीं कर सकता। 1991 के बाद कांग्रेस की सरकारों ने चरम शोषण और लूट पर आधारित अपनी नग्न पूँजीवादी आर्थिक नीतियों और नेहरू युग की लोकतांत्रिक संस्थाओं के बीच यथासम्भव तालमेल बिठाने का रास्ता अपनाया था। उनके लिए अपनी परम्परागत लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष छवि से पूरी तरह मुँह मोड़ लेना आसान नहीं था। लोकतंत्र नहीं तो उसका मुखौटा और लबादा ही सही। लेकिन यही उनकी सीमा थी, जिसके चलते उदारीकरण, वैश्वीकरण और निजीकरण की नीतियों को वे उतना सरपट नहीं दौड़ा पाये थे, जितना मोदी सरकार ने सत्ता में आते ही कर दिखाया। सरकार बनाने के कुछ ही दिनों बाद खुदरा व्यापार, रक्षा उद्योग, दवा, खाद्य प्रसंस्करण, उड्डयन सहित 13 क्षेत्रों में 100 प्रतिशत विदेशी पूँजी निवेश की इजाजत और इस राह में आने वाली सभी बाधाओं को हटाना इसका सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा था। इसके लिए अपनी विचारधारा के अनुरूप लोकतांत्रिक संस्थाओं को तहस-नहस करना भी जरूरी था क्योंकि उनमें पहले से आसीन अधिकांश व्यक्तियों की उदारवादी, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष विचारधारा और पुरानी कार्यशैली के साथ संघ की निरंकुश, सर्वसत्तावादी, फासीवादी विचारधारा और कार्यशैली का कोई मेल नहीं था।

इस हमले का पहला निशाना बना योजना आयोग, जिसकी जगह नीति (नेशनल इण्डस्ट्रियल फॉर ट्रांस्फोर्मिंग इंडिया) आयोग नाम से तकनीकी सलाहकारों का एक निकाय, संसद से बाहर मंत्री परिषद की बैठक में प्रस्ताव पास करके गठित कर लिया गया। इस निकाय को योजना बनाने या धन आवंटित करने का अधिकार नहीं है। इस निकाय के पहले उपकुलपति अरविन्द पनगढ़िया ने कहा था कि कुछ महत्त्वपूर्ण कानूनों को बदलने के लिए शासनादेश व्यवहार्य होगा। यानी वे कानून बदलने के लिए संसद की औपचारिक स्वीकृति भी जरूरी नहीं मानते।

भाजपा के वैचारिक हमले का अगला निशाना न्यायपालिका को बनाया गया, जहाँ न्यायाधीशों की नियुक्ति कोलेजियम की जगह नेशनल ज्यूडीसियरी अप्वाइंटमेंट कमीशन की स्थापना करके न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका के हाथों में सौंपने का प्रयास जारी है। ऐसी ही कोशिश नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (कैग) जैसी संवैधानिक और स्वायत्त संस्थाओं को संसद और सरकार के अधीन लाने की भी हो रही है। कैग ने पिछली सरकार के बड़े-बड़े घोटालों को उजागर किया था और इस सरकार के लिए भी आँख की किरकिरी बनी हुई है।

हिन्दुत्व की विचारधारा का सबसे बड़ा और चौतरफा हमला उच्च शिक्षण संस्थाओं और साहित्यिक सांस्कृतिक संस्थानों पर हुआ। भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद के अध्यक्ष पद पर आरएसएस से जुड़े एक ऐसे व्यक्ति को बैठाया गया जिनका इतिहासकार के रूप में कोई पहचान नहीं है। उनकी इच्छा रामायण और महाभारत जैसे पौराणिक ग्रंथों की ऐतिहासिकता प्रमाणित करनी है। भारतीय सांस्कृतिक सम्बन्ध परिषद के प्रमुख पद पर नियुक्त लोकेश चन्द्रा नरेन्द्र मोदी को महात्मा गाँधी से भी महान और भगवान का अवतार मानते हैं। इसी तरह फिल्म एण्ड टेलीविजन इन्स्टीट्यूट ऑफ इंडिया (एफटीआईआई), भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (आईआईटी), भारतीय प्रबन्धन संस्थान (आईआईएम), भारतीय सांख्यिकी संस्थान (आईएसआई), भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान (आईआईएएस) सहित कई विश्वविद्यालयों में कुलपतियों की नियुक्ति में योग्यता और अर्हता का मापदण्ड गिराने को लेकर विवाद सामने आया।

पहले भी सरकारें अपने पसन्द के लोगों की नियुक्ति ऐसे महत्त्वपूर्ण पदों पर करती रही हैं, लेकिन यहाँ विवाद उच्च पदस्थ व्यक्तियों की वांछित योग्यता को लेकर सामने आया, क्योंकि इन पदों पर पहले विश्वविख्यात विद्वानों ने ज्ञान-विज्ञान के नये क्षितिज खोलने में अपनी अप्रतिम सेवाएँ दी हैं। यह सवाल दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का ही है। धर्म-केन्द्रित चिन्तनधारा यथास्थिति की पोषक, अतीतग्रस्त और परम्परा पूजक होती है। प्राचीन काल की श्रेष्ठ संस्कृति में हर अच्छाई की तलाश करना और परम्परागत ज्ञान को महिमामण्डित करना ही इनकी बौद्धिकता का अन्तिम लक्ष्य होता है। हालाँकि उस ज्ञानयुग को वापस लाना या वर्तमान युग के साथ उसका समन्वय स्थापित करना भी व्यवहार्य नहीं, क्योंकि आज मानव-ज्ञान उससे सादियों आगे निकल चुका है। इस तरह उनके सामने ज्ञान-विज्ञान को उन्नत करने की चुनौती नहीं होती। दूसरी ओर मानवकेन्द्रित सांसारिक चिन्तनधारा अतीत के सकारात्मक तत्वों को लेकर आगे बढ़ती है तथा अब तक के समस्त ज्ञान-विज्ञान का सदुपयोग वर्तमान के गतिरोध को तोड़ने और उसे भविष्य के प्रगति पथ पर ले जाने में करती है। वह पुरातन मूल्य-मान्यताओं, विधि-निषेधों और परम्पराओं को समय सापेक्ष नये अनुसंधानों की रोशनी में परिष्कृत करके लोकहित के अनुरूप ढालती है। यही कारण है कि दक्षिण-पंथी विचारधारा के खेमे में बुद्धिजीवियों का अभाव है। जो लोग हैं भी, उनकी विचारधारा संविधान सम्मत उदारवादी, लोकतांत्रिक विचारों के विपरीत है। जिन संस्थाओं में उन्हें स्थापित किया गया, उनको अपने विचारों के अनुरूप ढालने के उनके प्रयासों से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान-विज्ञान को लेकर उनकी समझ और उनका उद्देश्य क्या है?

भाजपा के पूर्व अध्यक्ष नितिन गडकरी ने अपने विरोधियों

के बारे में कहा था कि "अगर मैं इस देश को सोने से पोलिश कर दूँ तो भी वे खुश नहीं होंगे। उनको हमसे एक ही समस्या है, हमारी विचारधारा।'' (द वीक, 16 जुलाई 2017) निश्चय ही संघ-भाजपा की विचारधारा ही है जो उनकी आर्थिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक राणनीति के रूप में सामने आती है। हिन्दूराष्ट्र के रूप में धार्मिक या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की उनकी विचारधारा संविधान के अन्तर्गत सर्वस्वीकृत लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता, सामाजिक न्याय और मानवाधिकार की विचारधारा से कदम-कदम पर टकराती है। यही कारण है कि प्रधानमंत्री से लेकर संघ परिवार का आम कार्यकर्ता तक, धर्मनिरपेक्षता और धर्मनिरपेक्ष लोगों का मजाक उड़ाते हैं। प्रधानमंत्री द्वारा जापान के सम्राट को 'गीता' भेंट करते हुए धर्मनिरपेक्ष लोगों का मजाक उड़ाना और जर्मनी में संस्कृत पर बोलते हुए धर्मनिरपेक्षता को इसके लिए जिम्मेदार ठहराना इसका उदाहरण है। संविधान की कसम खाकर संसद में प्रवेश करने गृहमंत्री ने संसद में समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता पर आक्रामक भाषण दिया था। राष्ट्रपति कोविन्द ने ईसाई और मुस्लिमों के साथ भेदभाव को इस आधार पर जायज ठहराया था कि वे भारत के लिए पराये हैं। उन्होंने कहा था कि अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा धर्म परिवर्तन किये जाने पर उनके विशेष अधिकार छीन लिये जायें। जाहिर है कि ये सभी विचार संविधान में निहित बहुलतावादी धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध हैं। यही कारण है कि संघ और भाजपा की ओर से संविधान को गुलामी का दस्तावेज बताते हुए अक्सर इसकी जगह नया संविधान बनाने की बातें भी उठती रहती हैं।

यह विचारधारा अचानक प्रकट नहीं हुई है। इसका इतिहास काफी पुराना है। गाँधी की हत्या करने वाले गोडसे ने इसी विचारधारा को व्यवहार में उतारा था। उसने अदालत में दिये गये अपने बयान में कहा था कि उसने गाँधी और सावरकर की विचारधारा को पढ़ा और सावरकर से प्रभावित हुआ, गाँधी को खारिज कर दिया। गाँधी की विचारधारा के बढ़ते प्रभाव से निराश होकर उसने उनकी हत्या कर दी। उसके भाई गोपाल गोडसे ने भी स्वीकार किया था कि वे दोनों राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और हिन्दू महासभा के सदस्य थे जो हिन्दू राष्ट्रवाद की वकालत करते थे। (जीडी खोसला, मनोहर मूलगाँवकर)।

गाँधी हत्या के मामले में 27 फरवरी 1948 को नेहरू को लिखे अपने पत्र में सरदार पटेल ने बताया था--"बापू की हत्या के मामले में मैं रोज-ब-रोज खुद उसकी प्रगति को देख रहा हूँ.... हिन्दू महासभा के उन्मादी गिरोह ने सीधे सावरकर के अधीन यह षडयन्त्र रचा और उसे अंजाम दिया।" आजादी के पहले और बाद के कई जाँच आयोगों की रिपोर्टों में भी साम्प्रदायिक दंगे कराने में इस विचारधारा की भूमिका की पुष्टि हुई।

जहाँ तक राष्ट्रवाद का सवाल है आज पूरी दुनिया में यह विचारधारा गुजरे जमाने की बात हो चुकी है, क्योंकि 1990 के बाद राष्ट्रवाद के अलम्बरदारों ने खुद ही वैश्वीकरण करने और राष्ट्रवाद को तिलांजलि देने का सामूहिक निर्णय ले लिया। यूरोप के एकीकरण से इसे साफ तौर पर समझा जा सकता है, जहाँ भाषाई-भौगोलिक इलाके के बँटवारे और राष्ट्रराज्य की स्थापना के लिए खूनी संघर्ष हुए थे। राष्ट्रवाद का आधार अलग-अलग राष्ट्रीय पूँजीपतियों द्वारा अपने लिए अलग बाजार की माँग था। इस तरह राष्ट्रवाद जो कभी राष्ट्रीय मंडियों में पैदा हुआ था, अब विश्वव्यापी मंडी में तिरोहित हो गया। भारत में राष्ट्रवाद विदेशी गुलामी के खिलाफ संघर्ष में जनता को एकजुट करने के अस्त्र के रूप में उभरा था। विडम्बना यह है कि आज के शासक जो विदेशी पूँजी की नयी गुलामी को आगे बढ़ा रहे हैं, वे आज राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पैरोकार बने हुए हैं। भारत के कथित राष्ट्रवादी जो कभी स्वदेशी का राग अलापते थे, अब विदेशी बाजार से अपना भाग्य जोड़े हुए है, डॉलर महाप्रभु की आरती उतारते हैं और देश में विदेशी पूँजी निवेश के लिए लालायित रहते हैं। लेकिन जनता को धोखा देने के लिए राष्ट्रवाद ही नहीं, अंध राष्ट्रवाद की घुट्टी पिलाते हैं। नीतिगत फैसले राष्ट्रवाद से नहीं बल्कि वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के आधार पर होते हैं। लेकिन जनता के आक्रोश और असंतोष की दिशा भटकाने और असली समस्याओं से ध्यान हटाने के लिए छद्म राष्ट्रवाद का सहारा लिया जाता है। उन्हें देशभक्ति की अफीम चटायी जाती है। यही नहीं, जनविरोधी नीतियों के खिलाफ लड़ने या सरकार का विरोध करने वालों पर अंग्रेजों द्वारा 1870 में बनाया गया देशद्रोह कानून थोपा जाता है।

साम्राज्यवादी वैश्वीकरण के मौजूदा दौर में अपनी ऐतिहासिक प्रासंगिकता से रहित राष्ट्रवाद, भले ही वह हिन्दू राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के आवरण में दिखता हो, लेकिन वह छद्म राष्ट्रवाद, संकीर्ण राष्ट्रवाद, आक्रामक राष्ट्रवाद, अन्ध राष्ट्रवाद और सही मायने में फासीवादी राष्ट्रवाद ही हो सकता है। यहाँ फासीवादी राष्ट्रवाद की अवधारणा पर विचार कर लेना भी समीचीन होगा। मुसोलिनी ने फासीवाद के पाँच सिद्धान्त गिनवाये थे-- राजसत्ता के हितों को व्यक्ति के अधिकार के ऊपर रखना, राष्ट्र के ऊपर राजसत्ता की वरीयता, लोकतंत्र का परित्याग, राजसत्ता का धर्मनिरपेक्ष न होकर किसी एक खास धर्म को सम्मान और संरक्षण देना तथा राजसत्ता को पूरे राष्ट्र की अन्तश्चेतना मानना। इन बातों का हमारे संविधान की मूल भावना और उसके द्वारा जनता को दिये गये मूलभूत अधिकारों से कोई लेना देना नहीं है। एक बात और विचारणीय है कि फासीवाद उस जर्मनी में आया था जिसकी उत्पादक शक्तियाँ काफी उन्नत थीं, वह दुनिया भर में कच्चे माल

के स्त्रोतों और अपने तैयार माल के लिए बाजार पर कब्जे का सपना देखता था। आज के संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था के मालिक, हमारे देश के शासक जो दुनिया भर में पूँजी और तकनीक के लिए दौड़-भाग कर रहे हैं और उसी के भरोसे अपनी अर्थव्यवस्था में जान फूँकने का सपना देखते हैं, वे उस विनाशकारी फासीवाद का हौवा खड़ा करके सिर्फ जनता को नकली मुद्दों में उलझाकर अपनी नाकामियों को छिपाने की कोशिश कर सकते हैं। वे यही कर रहे हैं।

आर्थिक संकट और जनता की बुनियादी समस्याओं को हल करने में नाकाम शासक उस पर पर्दा डालने के लिए तरह-तरह के उपायों के साथ-साथ हर तरह के जनान्दोलन और राजनीतिक विरोध का दमन करते हैं। इससे आर्थिक संकट तो असमाधेय होता ही है, राजनीतिक संकट भी गहराता है। ऐसी स्थिति में आमूल परिवर्तन के लिए मनोगत शक्तियाँ कमजोर हों और अपनी भूमिका न निभा पायें तो चारों ओर अराजकता और तबाही का आलम छा जाता है। आज देश की लगभग ऐसी ही स्थिति है। सामाजिक जीवन का हर पहलू संकट की गिरफ्त में है। सही विकल्प के अभाव में यह व्यवस्था महज अपनी जड़ता के आवेग से घिसट रही है। ऐसे ही माहौल के बारे में शहीदे आजम भगत सिंह ने कहा था--

"जब गतिरोध की स्थिति लोगों को अपने शिकंजे में जकड़ लेती है तो वे किसी भी प्रकार की तब्दीली से हिचकिचाते हैं। इस जड़ता और निष्क्रियता को तोड़ने के लिए एक क्रान्तिकारी स्पिरीट पैदा करने की जरूरत होती है। अन्यथा पतन और बर्बादी का वातावरण छा जाता है। लोगों को गुमराह करने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ जनता को गलत रास्ते पर ले जाने में सफल हो जाती हैं और उनमें गतिरोध आ जाता है।

इस परिस्थिति को बदलने के लिए जरूरी है कि क्रान्ति की भावना ताजा की जाये, ताकि इंसानियत की रूह में हरकत पैदा हो।"

आज इसी काम को आगे बढ़ाने की जरूरत है।

पाठकों से अपील

❑ **'देश-विदेश' अंक 29 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।**

❑ **जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।**

❑ **देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 29 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।**

❑ **पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें और इसकी सूचना एसएमएस या ईमेल से भेज दें।**

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
मोबाइल नं. 9810104481
S.B. AC : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इंडिया,
जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न. 4,
न्यू मॉर्डन शाहदरा
दिल्ली- 110032

आर्थिक संकट के भंवर में भारत

--अनुराग मौर्य

गरीब लहरों पे पहरे बिठाये जाते हैं
समन्दरों की तलाशी कोई नहीं लेता
- वसीम बरेलवी

वसीम बरेलवी का यह शेर इशारा करता है कि देश में जारी आर्थिक संकट से किसे सजा मिल रही है और कौन मौज कर रहा है?

आर्थिक संकट कितना भयावह रूप लेता जा रहा है, इसे कुछ आँकड़ों से देख सकते हैं। अप्रैल-जून 2018 की तिमाही में निर्यात 14.21 फीसदी बढ़कर 82.47 अरब डॉलर हो गया। जबकि आयात 13.49 फीसदी बढ़कर 127.41 अरब डॉलर पर पहुँच गया। इस दौरान कुल व्यापार घाटा 44.94 अरब डॉलर रहा। इस साल की पहली तिमाही में ही व्यापार घाटा 43 महीने के उच्चतम स्तर पर पहुँच गया। आयात-निर्यात में अन्तर जितना ही बढ़ेगा हमारा व्यापार घाटा उतना ही अधिक होगा। इस घाटे की पूर्ति के लिए ज्यादा विदेशी मुद्रा चाहिए लेकिन हमारे यहाँ विदेशी मुद्रा का सीमित भण्डार है, जो अब लगातार घट रहा है। जुलाई के प्रथम सप्ताह में विदेशी मुद्रा भंडार 24.82 करोड़ डॉलर कम होकर 127.41 अरब डॉलर रह गया है। इसका मुख्य कारण आयात-निर्यात में बढ़ते अन्तर के अलावा रुपये की गिरती कीमत और विदेशी निवेशकों का डॉलर वापस ले जाना और नये निवेश न आना है। विदेशी मुद्रा के देश में आने के दो प्रमुख साधन हैं-- निर्यात और विदेशी पूँजी निवेश। उत्पादन की वृद्धि नोटबन्दी और जीएसटी के बाद न के बराबर है तो उत्पाद के निर्यात में वृद्धि की गुंजाइश नहीं है। भारत बड़ी मात्रा में कच्चे माल का निर्यात करता है। इसके बावजूद अकेले कच्चे माल के निर्यात से हम कितना कमा लेंगे?

डूबती अर्थव्यवस्था, साम्प्रदायिक दंगे और गैर लोकतांत्रिक माहौल के चलते विदेशी कारोबारी यहाँ निवेश करने से कतरा रहे हैं। 2017 में प्रत्यक्ष विदेश निवेश घटकर 40 अरब डॉलर पर आ गया, जो 2016 में 44 अरब डॉलर था। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश वृद्धि दर पिछले पाँच साल के न्यूनतम स्तर पर है। जबकि विदेशी निवेश निकासी दर दो गुने से ज्यादा बढ़कर 11 अरब डॉलर हो गयी है। जिन विदेशी निवेशकों के जरिये सरकार ने विकास के सब्जबाग दिखाये थे, वे अब भाग रहे हैं। जनवरी 2018 के बाद से विदेशी संस्थागत निवेश (एफआईआई) में 48,000 करोड़ रुपये की निकासी हुई है। यह में पिछले 10 साल में सबसे बुरी स्थिति है। डिपोजिटरीज के आँकड़े के अनुसार जनवरी से जून की अवधि तक विदेशी पोर्टफोलियो निवेशकों (एफपीआई) ने ऋण बाजार से 41,433 और शेयर बाजार से 6,430 करोड रुपये शुद्ध निकासी की है। 2008 की मन्दी के बाद, जब दुनिया में आर्थिक संकट के घने बादल छाये थे, तब से यह सबसे बड़ी निकासी है।

सरकारी आँकड़ों की बाजीगरी देखें तो पता चलता हैं कि इन सालों में अर्थव्यवस्था बहुत तेजी से बढ़ी है जबकि निवेश प्रस्ताव एक तिहाई हो गये हैं। जो निवेश हो भी रहे हैं वे उत्पादन के क्षेत्र में न होकर, हथियारों, जहाजों और कारों की खरीद-फरोख्त में लग रहे हैं। 2018 की दूसरी तिमाही में नया निवेश 2.1 लाख करोड़ रुपये का रहा है जो 14 सालों में सबसे कम है और इसका भी दो तिहाई हिस्सा सिर्फ हवाई जहाज खरीदने में खर्च होगा। जब कोई उद्योग नहीं लगाया जाएगा, ऐसे में भला रोजगार सृजन कहाँ सम्भव है? प्रस्तावित निवेश से वस्तुओं का आयात किया जा रहा है, जिनमें से ज्यादातर युद्ध सामग्री हैं। अगर उत्पादन के क्षेत्र में निवेश होता तो उत्पादक श्रमिकों की आवश्यकता होती और इससे रोजगार बढ़ता। इसके साथ अर्थव्यवस्था के दूसरे पहियों में भी थोड़ी हरकत होती। लेकिन आज की अर्थव्यवस्था में ऐसा कुछ भी नहीं है।

जीएसटी को लागू हुए एक साल से अधिक हो चुका है। बताया गया था कि जीएसटी के बाद चीजें सस्ती होंगी, कर चोरी घटेगी, व्यापार आसान होगा, रोजगार बढ़ेगा और विकास होगा। लेकिन वास्तव में ऐसा कुछ नहीं हुआ। इजारेदार पूँजी के इस दौर में जीएसटी केवल बड़े कारोबारियों के लिए वरदान साबित हुई। इस नयी कर व्यवस्था से उद्योग में लगने वाले माल की लागत बढ़ गयी। जिससे बड़ी संख्या में लघु, कुटीर और मध्यम स्तर के उद्योग तबाह हो गये। नतीजतन, इनसे जुड़े मजदूर, छोटे स्तर के कारोबारी और कच्चा माल सप्लाई करने वालों के रोजगार खत्म हो गये। जीएसटी ने बाजार में इजारेदार पूँजी के वर्चस्व को बढ़ाया है। सरकार

पूरी बेहयाई से उनके साथ खड़ी है। इसके साथ ही महँगाई आसमान छूने लगी। जून 2017 में महँगाई दर 1.46 फीसदी थी जो लगातार बढ़ते हुए दिसम्बर में 5.21 फीसदी तक पहुँच गयी और आज भी इसी के आस-पास बनी हुई है।

नोटबन्दी और जीएसटी की मार से भारतीय अर्थव्यवस्था किस तरह चरमरा गयी है? इसका ज्वलन्त उदाहरण सूरत के कपड़ा उद्योग में देखने को मिला, जहाँ नोटों की कमी और व्यापार घाटा के चलते लघु और मझोले उद्योग बड़ी संख्या में बन्द हो गये। इसने देश में संगठित क्षेत्र के 15 लाख और असंगठित क्षेत्र के 3.72 करोड़ लोगों की नौकरियों को निगल लिया। सूरत का कपड़ा उद्योग जीएसटी लागू होने के बाद तबाह हो गया। यहाँ के 75 हजार कारोबारियों में 90 फीसदी छोटे और मझोले कारोबारी हैं। इनका कारोबार लगभग 40 फीसदी तक कम हो गया है। जीएसटी से पहले इस उद्योग में 18 लाख लोग काम करते थे, अब इसमें 4.5 लाख लोग ही बचे हैं। जहाँ तक बात रही रोजगार सृजन की तो जीएसटी लागू होने के बाद इसकी गुंजाइश बिलकुल ही खत्म हो गयी है। बड़ी कारोबारी कम्पनियाँ उत्पादन के लिए अत्याधुनिक स्वचालित मशीनें और कम श्रमिक प्रयोग करती हैं। इसके विपरीत छोटी कम्पनियाँ कम मशीन और अधिक श्रम का इस्तेमाल करती हैं। लघु, कुटीर और मध्यम कारोबारी कम्पनियाँ बड़ी कम्पनियों के मुकाबले कहीं ज्यादा रोजगार का सृजन करती हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के सामने एक और नयी समस्या मुँह बाये खड़ी है, वह है रुपये की लगातार गिरती कीमत। डॉलर के मुकाबले रुपये का अवमूल्यन तेजी से हो रहा है और अब लगभग 70 रुपया 1 डॉलर के बराबर हो गया है। वास्तव में रुपये की क्रय शक्ति समता (परचेजिंग पॉवर पैरिटी) 2016 में 17.42 थी। इसका अर्थ यह हुआ कि 1 डॉलर में जितना सामान आ सकता है उतना सामान खरीदने के लिए हमें 17.42 रुपये खर्च करना पड़ता है। फिर 1 डॉलर 70 रुपये (विनिमय दर) के बराबर क्यों है? इसका मतलब है कि हम अमरीका के साथ व्यापार में सरासर घाटे में हैं। हर अमरीकी सामान की कीमत के लिए हमें चार गुना अधिक खर्च करना पड़ता है। यह बात हमारी सरकार नहीं बताती, जो अमरीका के आगे नतमस्तक रहती है। यह खुली लूट जारी है। सरकार निवेश के लिए बर्बर अमरीकियों को बुलावा देती रही है। लेकिन हम यह बात भूल जाते हैं कि विदेशी डॉलर हमें भीख या मदद में नहीं मिलता है। विदेशी निवेशक ब्याज और मुनाफे समेत हमसे अपना डॉलर वसूलकर रफूचक्कर हो जाते हैं। इसी से रुपया गिरता जा रहा है।

आईडीबीआई बैंक में फँसे कर्ज का अनुपात 28 फीसदी है जो बैंकिंग सेक्टर के इतिहास में एक रिकार्ड है। इसके साथ ही आईडीबीआई बैंक को पिछले वित्तीय वर्ष में 8200 करोड़ का शुद्ध घाटा हुआ है। देशवासियों का जो पैसा एलआईसी जैसी सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के पास अपनी सामाजिक सुरक्षा गारन्टी के तौर पर जमा है अब उसे आईडीबीआई बैंक को उबारने में लगाया गया है। आईडीबीआई की पूँजी पूरी तरह डूब चुकी है, सरकार अब उसका 51 फीसदी हिस्सा एलआईसी को बेच रही है। जबकि असलियत यह है कि एलआईसी के पास अपनी पूँजी नहीं है, इसके पास सारी पूँजी बीमा धारकों की प्रीमियम से इकट्ठा पूँजी है। बीमा धारकों की थोड़ी-थोड़ी रकम से इकट्ठा इसी पूँजी से एलआईसी अब आईडीबीआई बैंक का मालिकाना हिस्सा खरीद रही है। जाहिर है कि सरकार अपने घाटों की भरपाई मेहनतकश और निम्न मध्यम वर्ग की कमाई से कर रही है और कठिन समय के लिए बचा के रखी गयी उनकी रकम पर डाका डाल रही है। डूबते हुए बैंक में एलआईसी का पैसा लगाने से सरकार का एक फायदा यह भी होगा कि एलआईसी को भी घाटे का शिकार बनाकर इसके निजीकरण का बहाना ढूँढ लेगी।

विनिवेश के नाम पर सरकार लगातार सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के शेयर को बेच रही है। सरकार घाटे और विकास के नाम पर इन्हें निजी हाथों में बेचने को आमदा है जो कभी जनता की गाढ़ी कमाई से बनाये गये थे। सरकार ने हाल ही में 5 सरकारी उपक्रमो को बेचने की तैयारी कर ली है। सरकार ने यह कदम ऐसे समय में उठाया है जब वह एअर इंडिया के लिए एक भी खरीददार जुटाने में असफल हो गयी, जिससे चालू वित्तीय वर्ष में विनिवेश से 800 अरब रुपये इकट्ठा करने की सरकार की योजना विफल होती नजर आ रही है। हाल में आयी खबर के मुताबिक कपड़ा कम्पनी 'आलोक इंडस्ट्रीज' को 50.5 अरब रुपये में बेच दिया गया। जिसमें बैंक को 40 अरब रुपये ही मिलेंगे। जबकि आलोक इंडस्ट्रीज पर कर्ज दाताओं का कुल 295 अरब रुपया बकाया है। यानी इस सौदे से बैंकों को 86 फीसदी से ज्यादा का नुकसान है।

2018 की पहली तिमाही में भारतीय अर्थव्यवस्था की वृद्धि दर 7.7 फीसदी रही। अर्थव्यवस्था में सुधार का मतलब देश में रह रहे लोगों के जीवन की गुणवत्ता में भी सुधार होना चाहिए। लेकिन ऐसा कहीं दिखायी नहीं देता, बेरोजगारी चरम पर है, कृषि, स्वास्थ्य, मैनुफैक्चरिंग, जैसे क्षेत्र अपने निचले स्तर पर हैं। ऐसे में यह सवाल उठता है कि फिर यह आर्थिक वृद्धि किस अर्थव्यवस्था की है? जबकि अमीरी-गरीबी की खाई बढ़ी है। जनता पर टैक्स का बोझ बढ़ा है। ऐसे में ऐसा कौन-सा क्षेत्र है जिसके दम पर अर्थव्यवस्था का ग्राफ बढ़ता ही जा रहा है? यह है शेयर बाजार की जुआरी पूँजी या सटोरिया पूँजी, जो परजीवी पूँजी है। इस पूँजी का उत्पादन से दूर-दूर तक नाता नहीं है। बाजार में बैठे लोग इस बात पर सट्टा खेलते हैं कि बाजार में कौन चमकेगा, कौन जमीन पर गिरेगा, इस बार राजनीति में कौन अव्वल रहेगा, कितनी मौतें होंगी, करोड़पति बनने का अच्छा तरीका कौन-सा है आदि।

सवाल यह कि अर्थव्यवस्था संकट में है तो सेंसेक्स और

निफ्टी रिकार्ड कैसे बना रहे हैं? आर्थिक संकट के इस दौर में उत्पादक पूँजी निवेश तो सम्भव नहीं है। इसलिए शोषण और लूट से एकत्रित पूँजी को सट्टेबाजी में लगाया जा रहा है। सट्टेबाजी ही अर्थव्यवस्था का मुख्य हिस्सा हो गया है। सट्टेबाजी के क्षेत्र में एक से बढ़कर एक रिकॉर्ड बन रहे हैं और टूट रहे हैं। यही क्षेत्र दुनिया भर में पूँजी से पूँजी कमाने का सबसे आसान जरिया बन गया है। इस साल फुटबाल विश्वकप के दौरान सट्टेबाजी का एक सनसनीखेज मामला सामने आया है। कम्प्यूटर प्रोग्राम की मदद से विश्व के सबसे बड़े बैंको में से एक यूबीएस एजी ने जर्मनी और बहुराष्ट्रीय बैंक गोल्डमैन सैक्स ने ब्राजील के विजेता होने की भविष्यवाणी की थी। इन दावों पर खूब सट्टे लगे और इनमें से दोनों ही टीमें सेमीफाइनल में भी नहीं पहुँच पायी। भारत में भी विधि आयोग ने क्रिकेट समेत अन्य खेलों में सट्टेबाजी को कानूनी जामा पहनाने की सलाह दी है।

कुछ लाख सट्टेबाजों की कमाई देश के 60 करोड़ से अधिक किसान-मजदूरों की आय से अधिक है। हर साल लाखों सीमान्त किसान व्यवस्था जन्य संकटों से पार न पाने के चलते खेती से उजड़कर मजदूर बनने को विवश हैं। या कुछ उपाय न सूझने पर आत्महत्या कर लेते हैं। जीएसटी और नोटबन्दी के बाद कारोबार ठप पड़ने और कर्ज का बोझ बढ़ने के साथ-साथ सामाजिक दबाव भी बढ़ गया है, जिसके चलते व्यापारी वर्ग से भी आत्महत्या की खबरें मिलने लगी हैं। हाल ही में झारखंड के हजारीबाग शहर में एक कारोबारी नरेश ने पूरे परिवार के सभी 6 लोगों के साथ आत्महत्या कर ली। अपने सुसाइड नोट में लिखा है, बीमारी, दुकानबन्द, देनदारी, बदनामी और कर्ज से उपजे तनाव के चलते वे आत्महत्या करने को मजबूर हुए हैं। ये कारण आर्थिक तंगी और लूट के चलते उपजे हैं। कमोबेश यही हालत देश के ज्यादातर छोटे-मझोले कारोबारियों की है। आर्थिक तंगी एक नयी संस्कृति को जन्म दे रही है जो बहुत ही भयावह है।

दूसरी ओर, बड़े कारोबारी, पूँजीपति, सट्टेबाज और नेता गहरे आर्थिक संकट में भी खूब फल-फूल रहे हैं। इनके अबाध पूँजी संचय में सरकार कोई बाधा नहीं आने देती। सरकार इन्हें सभी संकटों से उबार लेती है। इसी संकट के दौरान अडानी, अम्बानी, रामदेव, मेहुल चोकसी, नीरव मोदी जैसों ने अपनी सम्पत्ति में अकूत वृद्धि कर ली।

2008 के वैश्विक आर्थिक संकट के समय भारत की अर्थव्यवस्था के बहुत से क्षेत्र दूसरे देशों की अर्थव्यवस्था से नत्थी नहीं थे। दूसरे, यहाँ के अधिकतर बैंकों का निजीकरण नहीं हुआ था और सरकारी बैंकों की हालत भी बेहतर थी, जिसके चलते 2008 की मन्दी का भारत पर बहुत व्यापक असर नहीं पड़ा था। 2008 के बाद उदारीकरण के दूसरे चरण की नीतियों को तेजी से लागू किया गया। आज अर्थव्यवस्था के अधिकतर अंग वैश्विक पूँजी से नत्थी हैं। 2014 में भाजपा के सत्ता में आते ही बीमा, बैंक, खुदरा व्यापार और यहाँ तक कि सुरक्षा क्षेत्र में भी विदेशी पूँजी निवेश की सारी सीमाएँ खत्म कर दी गयीं। विदेशी पूँजी पर निर्भरता बढ़ी। इसी के चलते आज वैश्विक मन्दी भारत में भी भारी तबाही मचा रही है। इसके समाधान के रूप में सरकार जनता पर करों का बोझ बढ़ा रही है, अलग-अलग बहानों से उसे लूट रही है। सार्वजनिक उपक्रमों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों के हवाले कर रही है। अर्थव्यवस्था के संकट से उबरने के लिए न तो देश के अर्थशास्त्रियों के पास कोई आर्थिक नीति है न ही यहाँ के राजनेताओं में उसे दूर करने का आत्मविश्वास है।

आर्थिक संकट के बारे में सरकार अपनी विफलता को छिपा रही है। जनता का विद्रोह न भड़के इसके लिए हिन्दू-मुस्लिम, गोरक्षा, राष्ट्रवाद और मॉब लिंचिंग को बढ़ावा दे रही है। मीडिया में सरकार अपनी छवि को साफ-सुथरी बनाकर पेश कर रही है। आर्थिक संकट के कारण असंतोष और गुस्सा जनता के हर हिस्से में दिखायी दे रहा है। लेकिन मीडिया 'फील गुड' और 'इण्डिया शाइनिंग' राग अलाप रहा है। खबरों पर गौर करें तो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक संकट जैसी कोई समस्या दूर-दूर तक नजर नहीं आती है। अखबार दिन-रात विकास की रट लगा रहे हैं। सरकार वृद्धि दर को बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रही है। वित्तमंत्री हर तरह के आर्थिक संकट से इनकार कर रहे हैं। सरकार के महकमे से कहीं भी आर्थिक संकट जैसे शब्द सुनने को नहीं मिलता।

कुछ संकट परिस्थितियों की देन होते हैं तो कुछ संकटों को हम न्यौता देकर बुलाते है। प्रधानमंत्री मोदी ने नवम्बर 2016 में नोटबन्दी लागू की और उसके कुछ ही महीने बाद अप्रैल 2017 में एक नयी कर व्यवस्था, जीएसटी लागू की। इनके बुरे नतीजों से आज सभी परिचित हैं। इन दोनों नीतियों ने भारत के आर्थिक संकट में कोढ़ में खाज का काम किया है। इन दोनों नीतियों ने अधिकतर उद्योगों को तबाह कर दिया। भारतीय अर्थव्यवस्था आज भी इससे उबर नहीं पायी है। ऐसे में सरकारें अर्थव्यवस्था का सारा बोझ मेहनतकश वर्ग पर ही डालती हैं। मेहनतकशों पर शोषण क्रूर तरीके से बढ़ा दिया जाता है। आर्थिक संकट की घड़ी में किसान, मजदूर , निम्न मध्यम वर्ग पर सारा आर्थिक बोझ लाद दिया जाता है। पूँजीपति अपना मुनाफा बढ़ाने और घाटा पूरा करने के लिए शोषण को और तेज कर देता है। कुल मिलाकर मेहनतकश जनता की स्थिति नारकीय बना दी गयी है। विश्व भूख सूचकांक में भारत का सर्वोच शिखर पर पहुँचना इसकी बदहाली का उदाहरण है। यह संकट सर्वग्रासी है, चिरंतन है, असमाधेय है। इस व्यवस्था के ढाँचे में ऊपरी सुधारों से इसका समाधान सम्भव नहीं है और वर्तमान शासक वर्ग इससे आगे सोच भी नहीं सकता। यह उसकी वर्गीय सीमा है।

भारत के आर्थिक विकास दर की हकीकत

--मो. अजहर

अखबारों में आये दिन यह खबर आती है कि भारत दुनिया की सबसे तेजी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था है, जबकि भारतीय रिजर्व बैंक के पूर्व गवर्नर रघुराम राजन और कई अन्य अर्थशास्त्रियों ने भारत की आर्थिक विकास दर की विश्वसनीयता पर सवाल उठाया है। 28 जनवरी 2016 को इंदिरा गाँधी इंस्टिट्यूट ऑफ डेवलपमेंट रिसर्च के 13वें दीक्षान्त समारोह में रघुराम राजन ने कहा था कि सकल घरेलू उत्पाद के आकलन करने के तरीके में समस्याएँ हैं, जिसके कारण हमें विकास दर के बारे में बात करने में सावधानी बरतनी चाहिए।

किसी भी देश का आर्थिक विकास सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) वृद्धि दर से तय किया जाता है। जीडीपी का निर्धारण एक जटिल अर्थशास्त्रीय प्रक्रिया है, जिसमें अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र के उपलब्ध आँकड़ों, मुद्रास्फीती तथा किसी निश्चित वर्ष को आधार मानकर आँकड़ों के समायोजन से कुल उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य तय किये जाते हैं।

भाजपा सरकार द्वारा जीडीपी के आकलन की प्रक्रिया में बदलाव के कारण जीडीपी में आया उछाल उद्योग जगत, अर्थशास्त्रियों और नीति निर्धारकों में बहस का विषय बना हुआ है। भाजपा सरकारों से पहले जीडीपी आकलन का जो तरीका इस्तेमाल किया जाता था उसमें फैक्टर कॉस्ट के आधार पर विकास दर तय की जाती थी, जिसे बदलकर सकल मूल्य वर्धिन (जीवीए) विधि के आधार पर कर दिया गया है। इसके साथ ही जीडीपी आकलन के आधार वर्ष को 2004-05 से बदल कर 2011-12 कर दिया गया है। वित्त वर्ष 2015-16 के लिए जीडीपी आकलन की इस नयी विधि ने देश की जीडीपी वृद्धि दर को 5.2 फीसदी से 7.4 फीसदी बढ़ा दिया। आधार वर्ष बदलने से वित्त वर्ष 2013-14 में जीडीपी वृद्धि दर 6.5 फीसदी पर आ गयी जबकि यह आधार वर्ष 2004-05 के अनुसार 4.7 फीसदी ही थी। इन आँकड़ों से हमें पता चलता है कि जीडीपी आकलन की इस नयी विधि ने जीडीपी में लगभग 2 फीसदी की कागजी वृद्धि कर दी है, जो पूरी तरह फर्जी है।

अर्थव्यवस्था की वास्तविक वृद्धि दर पर सवाल उठाये जाने पर सरकार ने अपना बचाव करते हुए जीडीपी के आकलन की नयी विधि को अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति के अनुरूप बताया है। पूर्व गवर्नर रघुराम राजन द्वारा उठाये गये सवाल वास्तव में काफी गम्भीर हैं क्योंकि जमीन पर कोई विकास होता नहीं दिख रहा है। गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी जैसे तमाम अन्य कारण बताते हैं कि देश की उच्च आर्थिक विकास दर वास्तव में सच नहीं है।

विश्व की सबसे तेज बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था बताये जाने के बावजूद देश में बेरोजगारी दर बढ़कर 3.6 फीसदी हो गयी है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 1 प्रतिशत जीडीपी वृद्धि दर पर 7.5 लाख नयी नौकरियों का सृजन होना चाहिए। अगर जीडीपी वृद्धि दर को 7 से 7.5 फीसदी मान भी लें तो प्रतिवर्ष 55 से 60 लाख नयी नौकरियों का सृजन होना चाहिए था। रोजगार सृजन तो दूर देश के विभिन्न क्षेत्रों में छँटनी के जरिए हजारों लोगों को बेरोजगार किया जा रहा है। सीआईईएल की रिपोर्ट के अनुसार 2017 में आईटी सेक्टर से चालीस हजार लोगों की छँटनी की गयी थी और 2018 में भी नब्बे हजार लोगों की छँटनी किये जाने की सम्भावना है।

भारत में लगभग 90 फीसदी लोग असंगठित क्षेत्र में काम करते हैं। सरकार के नोटबन्दी और जीएसटी जैसे घातक फैसले ने देश के असंगठित क्षेत्र तथा लघु और मध्यम उद्योगों को बर्बाद कर दिया, जिससे लाखों लोग बेरोजगार हो गये हैं। 2015 में कपड़ा उद्योग में काम करने वाले लोगों की संख्या लगभग 25 लाख थी जो घटकर केवल 15 लाख रह गयी है। देश की सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी कोल इण्डिया लिमिटेड में भी 2002-03 में लगभग पाँच लाख लोग काम करते थे, जिनकी संख्या 2017-18 में घटकर लगभग तीन लाख रह गयी है। नोटबन्दी के तत्काल बाद की तिमाही में जीडीपी की वृद्धि दर घटकर 6.1 फीसदी रह गयी थी जो 2015-16 में 7.9 फीसदी थी। हालाँकि सरकार जीडीपी में इस गिरावट को स्वीकार करने को तैयार नहीं थी। दूसरी तरफ वित्तमंत्री ने इस गिरावट के लिए विश्व में जारी आर्थिक मन्दी और यूपीए सरकार को जिम्मेदार ठहराया था।

सरकार ने डींग हाँकी है कि भारत फ्रांस को पीछे छोड़ कर दुनिया की छठी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था बन गया है। लेकिन यह कोई गर्व की बात नहीं है क्योंकि भारत की यह अर्थव्यवस्था फ्रांस की तुलना में अपनी विशाल जनसंख्या और क्षेत्रफल के कारण है। यदि जनता के जीवन स्तर के आधार पर देखें तो आज हमारा देश फ्रांस से बहुत पीछे है। फ्रांस की प्रति व्यक्ति

आय 25 लाख रुपये है जबकि भारत की 17 हजार रुपये।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की रिपोर्ट के अनुसार प्रतिव्यक्ति औसत जीडीपी के मामले में भारत का विश्व में 126वाँ स्थान है। भारत में प्रतिव्यक्ति आय अमरीका से 30 गुना और चीन से लगभग 5 गुना कम है। इस मामले में बहुत पिछड़े देश भी आज हमारे देश से बेहतर स्थिति में हैं। औसत प्रतिव्यक्ति आय कम होने के साथ-साथ भारत में आर्थिक विषमता बहुत अधिक है। एक रिपोर्ट के अनुसार भारत के एक फीसदी लोगों के पास देश की 73 फीसदी सम्पत्ति है। भारत की विकास दर का दूसरा पहलू यह भी है कि ग्रामीण क्षेत्रों का विकास 2 फीसदी की दर से ही हो रहा है जबकि शहरी अर्थव्यवस्था बहुत तेजी से बढ़ रही है। जिसके कारण भारत में गरीबों और अमीरों के बीच की खाई दिन-प्रतिदिन गहरी होती जा रही है।

केन्द्रीय सांख्यिकी कार्यालय के आँकड़ों के अनुसार 2017-18 में कृषि, वन और मत्स्य पालन क्षेत्र की विकास दर 2.1 फीसदी रहने का अनुमान था जो 2016-17 में 4.9 फीसदी थी। 2017-18 के आर्थिक सर्वे के अनुसार कृषि क्षेत्र का भारत की जीडीपी में केवल 17-18 फीसदी योगदान है जो देश में 50 प्रतिशत लोगों को रोजगार देता है। आर्थिक सर्वे के इन आँकड़ों से देश में किसानों की हालत का अन्दाजा लगाया जा सकता है। आँकड़ों के दर्पण में देश की अर्थव्यवस्था भले ही मजबूत होती नजर आ रही हो लेकिन कृषि पर निर्भरता के मामले में भारत की अर्थव्यवस्था खोखली होती जा रही है।

2017-18 के आर्थिक सर्वे के अनुसार सरकार हर साल शिक्षा और स्वास्थ्य बजट में कटौती कर रही है। 2012-13 में शिक्षा पर कुल खर्च जीडीपी का 3.1 फीसदी था जो 2014-15 में घट कर 2.8 फीसदी रह गया। 2015-16 में शिक्षा बजट में और कटौती की गयी और यह घटकर 2.4 फीसदी रह गयी। एक ओर सरकार शिक्षा बजट में कटौती कर रही है और दूसरी ओर स्कूल और कॉलेजों की फीस आसमान छू रही है।

भारत स्वास्थ्य सेवाओं पर सबसे कम खर्च करने वाले देशों में शुमार है। आँकड़ों के अनुसार भारत स्वास्थ्य सेवाओं पर जीडीपी का 1.3 फीसदी ही खर्च करता है। भारत के पड़ोसी देश नेपाल, बांग्लादेश और पाकिस्तान भी स्वास्थ्य सेवाओं पर भारत से अधिक खर्च करते हैं। स्वास्थ्य सेवाओं पर अफगानिस्तान अपनी जीडीपी का 8.2 फीसदी, दक्षिण अफ्रीका 8.8 फीसदी, ब्राजील 8.3 फीसदी और रूस 7.1 फीसदी खर्च करता है। इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि भारत की आर्थिक विकास दर का जनता पर कितना प्रभाव पड़ता है। विकास दर को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के लिए सरकार अधिक से अधिक कर संग्रह करती है जिसका बोझ जनता पर प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कर के रूप थोप देती है।

सच्चाई तो यह है कि सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि दर की गणना में कृषि, उद्योग और आवश्यक सेवाओं के अतिरिक्त वित्त, सट्टेबाजी, रियलस्टेट सहित किसी भी अनुत्पादक क्षेत्र को शामिल करना एक धोखाधड़ी है, आँकड़ों की बाजीगरी है। हमारे देश में अगर अनुत्पादक क्षेत्र वास्तविक उत्पादन के क्षेत्र से आगे निकल गया है, वहाँ फिर भी अगर कोई मूल्य योगदान फिर भी कोई रोजगार सृजन, कोई सामाजिक उत्पादन नहीं होता तो जाहिर है कि मौजूदा विकास दर के आँकड़े पैसे से पैसा कमाकर अरबपति-खरबपति बनाने वालों के विकास के सूचक हैं।

एक अन्तर्कथा कविता का अंश

दिल को ठोकर
वह विकृत आईना मन का सहसा टूट गया
जिसमें या तो चेहरा दिखता था बहुत बड़ा
फूला-फूला
या अकस्मात् विकलांग व छोटा-छोटा-सा
सिट्टी गुम है,
नाड़ी ठंडी।
देखता हूँ कि माँ व्यंग्यस्मित मुस्करा रही
डाँटती हुई कहती है वह
'तब देव बिना अब जिप्सी भी,
केवल जीवन-कर्तव्यों का
पालन न हो सके इसीलिए
निज को बहकाया करता है।
चल इधर, बीन रूखी टहनी
सूखी डालें,
भूरे डंठल,
पहचान अग्नि के अधिष्ठान
जा पहुँचा स्वयं के मित्रों में
कर ग्रहण अग्नि-भिक्षा
लोगों से पड़ोसियों से मिल।'
चिलचिला रही हैं सड़कें व धूल है चेहरे पर
चिलचिला रहा बेशर्म दलिद्दर भीतर का
पर, सेमल का ऊँचा-ऊँचा वह पेड़ रूचिर
सम्पन्न लाल फूलों को लेकर खड़ा हुआ
रक्तिमा प्रकाशित करता-सा
वह गहन प्रेम
उसका कपास रेशम-कोमल।
मैं उसे देख जीवन पर मुग्ध हो रहा हूँ!

--गजानन माधव मुक्तिबोध

सरकार और न्यायपालिका : सम्बन्धों की प्रकृति क्या है और इसे कैसे विकसित होना चाहिए

--प्रो. फैजान मुस्तफा

भारतीय न्यायपालिका एक संकट की गिरफ्त में है। कई सालों से, कार्यपालिका इसे सीमा लाँघने का दोषी ठहरा चुकी है-- और अब यह अपने सर्वोच्च निकाय में अप्रत्याशित फूट का सामना कर रही है। इस साल के शुरू में चार वरिष्ठ न्यायाधीश, प्रमुख न्यायाधीश द्वारा मुकदमों के बँटवारे के खिलाफ जनता से रूबरू हुए, जिन्होंने अपने अधिकारों के महत्त्व को चिन्हित किया। बाद में मुख्य न्यायाधीश के खिलाफ एक अभियोग भी दायर किया गया। इंडियन एक्सप्रेस की सीमा चिश्ती और सुशान्त सिंह के साथ बातचीत के दौरान विख्यात न्यायशास्त्री और नाल्सर यूनिवर्सिटी ऑफ लॉ के कुलपति प्रो. फैगान मुस्तफा ने इस अखबार के दिल्ली और मुम्बई के आयोजनों में न्यायपालिका की इस असाधारण स्थिति को समझाया।

भारत में स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्त्व के बारे में

हमारा देश एक संवैधानिक लोकतंत्र है, न कि कोई राजतंत्र। एक संघीय संविधान में, जहाँ सत्ता केन्द्र और राज्यों के बीच और राज्य के बहुत से अंगों के बीच बँटी हुई है। वहाँ संवैधानिक संस्थाओं के बीच विवाद होना लाजिमी है। किसी संघीय उच्च न्यायालय का मूल काम इन विवादों का निपटारा होना चाहिए। साथ ही एक संवैधानिक उदारवादी लोकतंत्र में जनता के अधिकार होते हैं। ये अधिकार जन्मजात हैं। राज्य की रियायत नहीं हैं, इसीलिए राज्य उन्हें छीन नहीं सकता। जनता के अधिकारों को सबसे ज्यादा खतरा राज्य से होता है क्योंकि सत्ता पर इसका एकाधिकार होता है। चूँकि विधायिका कानून बनाती है और कार्यपालिका उन्हें लागू करती है, इसलिए इन अधिकारों की रक्षा की जिम्मेदारी न्यायपालिका को सौंप देने के अलावा आपके पास कोई और विकल्प नहीं है। अगर न्यायपालिका स्वतंत्र नहीं है तो जनता के अधिकार बेहद खतरे में पड़ जायेंगे। न्यायपालिका की स्वतंत्रता किसी सफल संवैधानिक लोकतंत्र की पहली शर्त है। न्यायाधीशों की स्वतंत्रता, न्यायाधीशों का अधिकार नहीं, बल्कि नागरिकों का अधिकार है।

अत्यन्त लोकतांत्रिक सरकारें भी स्वतंत्र न्यायपालिका नहीं चाहतीं, इसके बजाय वे न्यायपालिका को नियंत्रित करना चाहती हैं। 10 सितम्बर 1949 को, पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा से कहा था "....कोई भी न्यायाधीश और कोई भी सर्वोच्च न्यायालय खुद को तीसरा सदन नहीं बना सकता। सर्वोच्च न्यायालय और न्यायपालिका अपने किसी फैसले में समस्त जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद की सम्प्रभु इच्छा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। अगर हम जहाँ-तहाँ गलतियाँ करते हैं तो यह इसे चिन्हित कर सकता है, लेकिन अन्तिम विश्लेषण में, जहाँ जनता के भविष्य का सवाल है, कोई न्यायपालिका इसके आड़े नहीं आ सकती। और अगर यह आड़े आ जाती है तो अन्तिम तौर पर, सारा संविधान संसद का बनाया हुआ है।"

अब, हमारा सिद्धान्त है कि संसद संविधान के अधीन काम करती है, हमारा सर्वोच्च न्यायालय सर्वोच्च नहीं है, संविधान ही सर्वोच्च है और सर्वोच्च न्यायालय संविधान के अधीन काम करता है। लेकिन हमारे सबसे कद्दावर नेता और लोकतंत्रवादी का उदगार है कि संविधान स्वयं संसद की रचना है। हमने अपनी संवैधानिक यात्रा ऐसे ही शुरू की है।

केशवनन्दा भारती (*केशवनन्दा भारती श्रीपादगलवरू और अन्य बनाम केरल राज्य और अन्य, 24 अप्रैल 1973*, जो न्यायपालिका को संविधान के मूल ढाँचे से टकराने वाले संशोधनों की समीक्षा करने और उन पर रोक लगाने का अधिकार देने वाले "मूल ढाँचे" के सिद्धान्त को निर्धारित करता है) के मामले में न्यायमूर्ति के एस हेगडे और वीके मुखर्जी ने किसी स्वतंत्र न्यायपालिका के महत्त्व को बहुसंख्यकवाद के खिलाफ एक बचाव के रूप में रेखांकित किया था-- "संसद के दोनों सदनों के दो तिहाई सदस्य (संविधान में संशोधन के लिए अनिवार्य) भी जरूरी नहीं कि इस देश के लोगों की बहुसंख्या का अनिवार्य रूप से प्रतिनिधित्व करते हों। हमारी चुनाव व्यवस्था ऐसी है कि मतदाताओं की छोटी संख्या भी संसद के दो तिहाई से ज्यादा सदस्य चुन सकती है।.... इसके अलावा, हमारा संविधान बहुसंख्य मतों के आधार पर नहीं बल्कि आम सहमति के आधार पर निर्मित किया गया था। यह अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करता है। अगर बहुसंख्यकों की राय को निर्देशन कारक के रूप में लिया गया तो अल्पसंख्यकों को दी गयी गारन्टियाँ महत्त्वहीन हो सकती हैं। ....संविधान सभा में अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधियों ने विशेष सुरक्षा की अपनी पुरानी माँग छोड़ दी थी

क्योंकि उन्हें मौलिक अधिकारों की गारन्टी हासिल हो गयी थी। इसीलिए केन्द्र और राज्यों की ओर से यह विवाद खड़ा करना कि संसद के दोनों सदनों के दो-तिहाई सदस्य देश के सभी लोगों की ओर से बोलने के लिए हमेशा अधिकृत हैं, अस्वीकार्य है।"

न्यायालयों और सरकार के बीच शुरुआती परस्पर सम्बन्ध के बारे में

हमारे गणतंत्र के शुरू के 17 सालों में, कुल मिलाकर सर्वोच्च न्यायालय ने संसद में आस्था जतायी। अधिकतर सांसद स्वतंत्रता सेनानी थे और न्यायालय का उन पर विश्वास था। लेकिन जब एक के बाद एक संशोधन संविधान के केन्द्रीय मूल्यों को नष्ट करने के लिए इस्तेमाल होने लगे तो न्यायालय को 1967 में इस पर विराम लगाना पड़ा। यह *गोलकनाथ* (*आईसी गोलकनाथ और अन्य बनाम पंजाब राज्य और अन्य 27 फरवरी 1967*) का मामला था। क्योंकि 1950 से अब तक के अपने अनुभव के कारण, न्यायालय ने संशोधन प्रक्रियाओं के मामले में चुने हुए प्रतिनिधियों पर विश्वास करने से इनकार कर दिया और आदेश जारी किया कि मौलिक अधिकारों में संविधान सभा के अलावा कोई कटौती नहीं कर सकता। इसने एक रूकावट खड़ी कर दी और कांग्रेस ने अगले चुनाव के अपने घोषणापत्र में मौलिक अधिकारों में संशोधन करने के मामले में संसद की सर्वोच्चता को वापस लेने का विशेष रूप से वायदा किया। *सांकरी प्रसाद* (*सांकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारतीय संघ- 1951*) और *सज्जन सिंह* (*सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य, 1964*) मामले में न्यायालय ने कहा था कि संसद को संविधान में संसोधन की पूर्ण शक्ति हासिल है। गोलकनाथ के मामले में वे दूसरे छोर पर चले गये। जो ठीक नहीं था क्योंकि संविधान को गतिशील दस्तावेज होना चाहिए, कोई एक पीढ़ी उनमें बदलाव की बुद्धिमत्ता पर एकाधिकार नहीं रख सकती। 1973 में इंदिरा गाँधी की इस शिकायत पर कि न्यायपालिका उसके रास्ते में बाधा डाल रही है, न्यायाधीशों ने महसूस किया कि देश का मिजाज उनके खिलाफ है, और उनकी सोच के प्रति आशंकित है-- केशवनन्दा भारती मामले में फैसला दिया गया कि हालाँकि वे संशोधनों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, लेकिन संविधान के मूलभूत ढाँचे का उल्लंघन नहीं होना चाहिए। और बहुत चतुराई से, उन्होंने 'मूलभूत ढाँचे' को बिना परिभाषित किये छोड़ दिया।

70-80 के दशक की "समर्पित न्यायपालिका" और इसके बाद इसकी प्रतिध्वनि (गूँज) के बारे में

सरकार ने कहा कि उसे ऐसे न्यायाधीश चाहिये जो संविधान के प्रति समर्पित हों। कुछ न्यायाधीश सीमाएँ लाँघ रहे थे, हो सकता है संवैधानिक मूल्यों की सुरक्षा के ज्यादा बड़े लक्ष्य की तलाश में, लेकिन मूलरूप से सरकार को ऐसे न्यायाधीशों की तलाश थी जो इसकी नीतियों का समर्थन करें। नतीजे के रूप में हमें न्यायमूर्ति एएन रॉय मिले, जिनके बारे में भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एम हिदायतुल्ला ने कहा था कि "वह (रॉय) अग्रद्रष्टा न्यायाधीश नहीं थे बल्कि वे मुख्य न्यायाधीश की कुर्सी की ओर देखने वाले न्यायाधीश थे।" 'समर्पित न्यायपालिका' का विचार समाजवादी व्यवस्था का प्रमाणक है, मेरी राय में यह किसी उदारवादी लोकतंत्र के लिए अच्छा नहीं है, क्योंकि यह न्यायपालिका में लोगों की आस्था पर चोट पहुँचाता है और इस संस्था की वैधता के लिए संकट पैदा करता है। ऐसा इमरजेंसी के दौरान सर्वाधिक स्पष्टता के साथ हुआ, *एडीएम जबलपुर* (*एडीएम जबलपुर बनाम एसएस शुक्ला, 28 अप्रैल 1976*, तथाकथित 'बन्दी प्रत्यक्षीकरण के केस में' जिसमें इमरजेंसी के दौरान जीवन और आजादी के अधिकार को स्थगित कर देने के खिलाफ दायर याचिकाओं के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने अपने दरवाजे बन्द कर लिये थे।) इमरजेंसी के बाद न्यायालय ने जनहित याचिकाओं की सुनवाई करके लोकप्रिय रास्ता अपनाने की कोशिश की। इमरजेंसी के बाद के सालों में बहुत से फैसलों में "भारत के लोग" सम्बोधित किया गया, चूँकि अदालतें उन नये अधिकारों की व्याख्या करने में आगे तक चली गयी थीं जो पहले संविधान में नहीं थे। यह पूछने के बजाय कि "आपकी समस्या क्या है?" लोकस स्टेन्डी की धारणा को विरल करके न्यायाधीशों ने यह पूछना शुरू कर दिया था कि "समस्याग्रस्त कौन है?" प्रोफेसर उपेन्द्र बख्शी ने यह बताने के लिए कि सर्वोच्च न्यायालय ने अब लोगों के दुखों को गम्भीरता से लेना शुरू कर दिया है, रोनाल्ड डार्किन की पुस्तक *टेकिंग राइट्स सीरयसली* के शीर्षक को अपनाया है।

और फिर भी, न्यायिक सक्रियतावाद को हमेशा न्यायिक दुस्साहसवाद से बचाना चाहिए। न्यायाधीशों को नीति सम्बन्धी फैसले नहीं लेने चाहिए और विधायिका या कार्यपालिका सम्बन्धी कार्रवाईयों का आदेश नहीं देना चाहिए। यह *लक्ष्मण रेखा* नहीं लाँघी जानी चाहिए।

वरिष्ठ न्यायाधीशों की 12 जनवरी की प्रेस कॉनफ्रेंस और इसके नतीजों के बारे में

ऐसा नहीं होना चाहिए था, वे (सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के बाद के चार वरिष्ठतम न्यायाधीश) उन्हें इसका समाधान निकालने की कोशिश करनी चाहिए थी और अगर आपने उनके चेहरे देखें हों, वे परेशान दिखायी पड़ रहे थे। उन्होंने मुश्किल से एक पत्र जारी किया जो उन्होंने मुख्य न्यायाधीश को लिखा था और जो वे कह रहे थे वह यह कि अगर वे जनता के सामने नहीं आये होते तो आनेवाली पीढ़ियाँ उन्हें सही मौके पर आवाज न उठाने के लिए कोसती। मुझे लगता है यह एक दुखभरा दिन था जब न्यायाधीश न्याय माँगने के लिए जनता के पास आये थे लेकिन उन्होंने जो मुद्दा उठाया वह बिल्कुल उचित था। एक संवैधानिक लोकतंत्र को निश्चय ही केवल संविधान ही नहीं होना चाहिए बल्कि संविधानवादी भी होना चाहिए।

संविधान तो हिटलर का भी था लेकिन संविधानवाद नहीं था। बहुत से इस्लामी देशों में संविधान है लेकिन संविधानवाद नहीं है। संविधानवाद माँग करता है कि राज्य की किसी भी कार्यकारी संस्था के पास असीमित सत्ता नहीं हो, जैसा कि उत्तराखण्ड उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के एफ जोसफ ने कहा था (21 अप्रैल 2016 को हरीश रावत की निलम्बित सरकार को पुनः स्थापित करते हुए) कि निरंकुशतावाद के लिए कोई जगह नहीं है। राष्ट्रपति किसी राजा की तरह व्यवहार नहीं कर सकते। जनवरी के प्रेस कॉन्फ्रेंस के बारे में मेरा मानना है कि यह एक वैध सवाल है कि क्या भारत के मुख्य न्यायाधीश को कार्यसूची के मालिक की हैसियत से पीठ गठित करने का निरंकुश अधिकार है? इस समस्या को दूर करना मुश्किल काम है और उन्हें बातचीत से कुछ आधार तलाशने की जरूरत है। एक भय है कि अगर उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीश अपने साथी न्यायाधीशों से विमर्श करते हैं तो गड़बड़ी पैदा हो जायेगी। सीजेआई दीपक मिश्रा ने अब मामलों का विषयवार बँटवारा करके एक स्वागतयोग्य कदम उठाया है, वास्तव में इस तरह उस तथाकथित प्रेस कॉन्फ्रेंस कुछ सकारात्मक नतीजा सामने आया है।

मेरी राय में किसी के लिए भी यह कहना कि उसके पास परम विवेकाधीन अधिकार है और यह कि उसकी सत्ता की कोई सीमा नहीं है, संविधानवाद के पूर्णतः खिलाफ होगा। लेकिन मेरा यह भी मानना है कि सीजेआई के खिलाफ अभियोग चलाना भी वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण था। यह 'बदसलूकी' का मामला नहीं था। आज ऐसी स्थिति हो गयी है, मुख्य न्यायाधीश न्यायपालिका का सर्वेसर्वा है, वह पीठ गठित कर सकता है, यहाँ तक कि कनिष्ठ साथी न्यायाधीशों को भी चुन सकता है। और अगर कोई इस शक्ति का दुरुपयेग भी करता है तो क्या वह 'बदसलूकी' है? संविधान में बदसलूकी की परिभाषा नहीं दी है ना ही इसने यह कहा है कि मुख्य न्यायाधीश न्यायपालिका का सर्वेसर्वा होगा। हमें इस शक्ति को गहराई से समझने की जरूरत है। प्रशासनिक विवेकाधीन अधिकार का सवाल गैर-मनमानेपन, तर्कसंगतता, विवेकशीलता के साथ हल किया जाना चाहिए।

जजों की नियुक्ति पर जारी खींचतान के बारे में

संविधानवाद के प्राथमिक सिद्धान्तों के अनुसार न्यायाधीशों का इस बात पर जोर देना कि वे जो भी कहते हैं, सरकार द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिए, ठीक नहीं है। लेकिन सभी संवैधानिक न्याय निर्णयों का एक सन्दर्भ होता है। और सन्दर्भ यह है कि सरकार ने न्यायाधीशों को प्रभावित करने की कोशिश की थी, गठबन्धन के दौर में कार्यपालिका कमजोर थी और इसलिए न्यायालय को यह शक्ति मिली। न्यायालय और कोलेजियम के प्रति मेरी शिकायत यह है कि इस शक्ति को पा लेने के बावजूद उन्होंने इसे पारदर्शी ढंग से लागू नहीं किया। इसी कारण से एनजेएसी (राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग), जिसे 2015 में सर्वोच्च न्यायालय ने भंग कर दिया था उस मामले में राजनीतिक घेरे में इस पर लगभग सभी एकमत थे कि न्यायाधीशों को खुद ही अपनी नियुक्ति करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। न्यायाधीशों ने इस समस्या को अपने आप ही बुलावा दिया है। हालाँकि न्यायाधीश शायद सरकार से ज्यादा मुक्त हैं और कम से कम जनता को उन पर कुछ विश्वास है फिर भी पिछले सालों में कोलोजियम ने जिस तरीके से काम किया है,वह विवादों से परे नहीं रहा है। फिर जब एनजेएसी का निर्णय लिया गया था तो मेरी राय में न्यायालय को इसे पूरी तरह भंग करने के बजाय प्रावधान को पढ़ना चाहिए था, क्योंकि इससे टकराव पैदा हुआ, ठीक उसी तरह जैसे लगभग 50 साल पहले *गोलकनाथ* मामले में हुआ था। इसे भंग करने से पहले (इसे सरकार पर छोड़ने के बजाय, जो ढाई सालों से लगातार इसकी टांग खींच रही थी) वे खुद प्रक्रिया की विवरणिका (उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए) तय कर सकते थे।

धर्म से जुड़े मामलों में बहुधार्मिक पीठों के बारे में

हमें निश्चय ही ऐसी पीठ नहीं बनानी चाहिए। मैं लिख चुका हूँ कि तीन तलाक के मामले की सुनवाई (22 अगस्त 2017) के लिए जो बहुधार्मिक पीठ (एक सिख, एक हिन्दू, एक पारसी, एक मुस्लिम और एक ईसाई न्यायाधीश) बनायी गयी थी उसकी कोई जरूरत नहीं थी। अगर कुछ करना ही था तो एक महिला न्यायाधीश को पीठ में रखा जाना चाहिए था। वास्तव में, हालाँकि मैं फैसले से कुल मिलाकर सहमत हूँ, मेरी समस्या यह है कि इसमें लैंगिक न्याय पर मुश्किल से कुछ कहा गया है। सभी अल्पसंख्यकों, सभी समुदायों, सभी जातियों को हमारे न्यायाधीशों पर पूरा भरोसा है। कोई भी न्यायाधीश कुर्सी पर बैठते समय मुस्लिम या ईसाई नहीं होता।

जो न्यायाधीश सेवानिवृत्त होकर आयोग के प्रमुख और राज्यपाल बन रहे हैं उनके बारे में

एक ऐसा न्यायाधीश जो ऐसी जिम्मेदारियाँ सम्हालता है, जैसे-- राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग का प्रमुख, वह एक ऐसे न्यायाधीश से बिल्कुल अलग है जो गवर्नर बनता है। एनएचआरसी राज्य के खिलाफ मामले सुनता है और पहले मुख्य न्यायाधीशों ने इस पद पर अच्छा काम किया था। मैं न्यायाधीशों को उनका अन्तिम वेतन पेंसन के रूप में देने को बहुत महत्त्व दूँगा और मानवाधिकार आयोग या लोकपाल जहाँ एक न्यायिक दिमाग की जरूरत है, के अलावा दूसरे पैनलों से उन्हें दूर रहने को महत्त्व दूँगा। लेकिन मैं नहीं सोचता कि किसी न्यायाधीश को राज्यपाल बनना चाहिए।

अनुवाद-- प्रवीण

कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र : मौत का कारखाना

--मोहित पुण्डीर

हाल ही में भारत सरकार ने अमरीकी मूल की सामाजिक कार्यकर्ता कासा एलिजाबेथ को कुडानकुलम पर कला प्रदर्शनी लगाने के आरोप में देश से निकाल दिया और दुबारा भारत आने पर रोक तक लगा दी।

एलिजाबेथ पिछले 14 सालों से तमिलनाडु के पांडिचेरी में रह रही थी। वह 'पांडीआर्ट' नाम से एक एनजीओ चलाती हैं, जिसमें वह विभिन्न सामाजिक विषयों पर कला प्रदर्शनी आयोजित करती हैं। कुछ समय पहले उन्होंने कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र के दुष्प्रभावों पर एक कला प्रदर्शनी आयोजित की थी जिसके बाद से वह सरकार के निशाने पर आ गयीं, उनके वीजा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। यहाँ तक कि उनके भारत आने पर एयरपोर्ट से ही उन्हें वापस जाने को विवश कर दिया गया। जब खुद प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी चेर्नोविल, थ्रीमाइल आइलैंड और फुकोसिमा जैसे भयंकर नाभिकीय हादसों की अनदेखी कर कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र की प्रशंसा करते हुए इसे देश को समर्पित कर रहे हों, तो ऐसे में विरोध के स्वर कैसे बर्दास्त किये जाएँगे।

कुडानकुलम, तमिलनाडू में स्थित भारत का सबसे बड़ा नाभिकीय परमाणु संयंत्र केन्द्र है। इसे ऊर्जा क्षेत्र में एक क्रान्ति की तरह पेश किया जा रहा है। कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र को शुरू हुए पाँच साल से भी अधिक समय हो गया है पर इसकी सफलता और असफलता की कहीं कोई चर्चा नहीं होती है। इसे अत्याधुनिक तकनीक द्वारा निर्मित बताया जा रहा है जिसमें हादसा होने की कोई सम्भावना नहीं है। क्या वास्तव में ऐसा है? या फिर देश को किसी बहुत बड़े परमाणु ज्वालामुखी की ओर धकेला जा रहा है जो कभी भी लाखों लोगों की जिन्दगी निगल सकता है। अरबों डॉलर खर्च करने और लाखों लोगों की जिन्दगी दाँव पर लगाने के बाद भी देश की बिजली आपूर्ति में नाभिकीय ऊर्जा अब तक मात्र 3.5 प्रतिशत योगदान दे पायी है जो पवन ऊर्जा से भी आधा है। आखिर यह परियोजना किसके फायदे के लिए है?

कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र का इतिहास लगभग 30 साल पुराना है और इतना ही पुराना इसके खिलाफ उठा संघर्ष भी है। 1988 में सोवियत रूस और भारत के बीच दो नाभिकीय रिएक्टर के निर्माण का समझौता हुआ था, जिसे आसपास के मछुआरों और आम लोगों के प्रबल विरोध का सामना करना पड़ा था। सोवियत रूस के टूटने के बाद लगभग एक दशक तक यह स्थगित रहा और 2002 में भारी विरोध के बावजूद इसका निर्माण कार्य शुरू किया गया। जिस समय नाभिकीय दुर्घटनाओं को बीते जमाने की बातें कहकर सरकार इसके पक्ष में तर्क दे रही थी उसी समय पूरी दुनिया के सामने फुकोसिमा नाभिकीय दुर्घटना एक भयावह सच्चाई बन गयी। जहाँ हजारों लोग विकिरण की चपेट में आ गये और उन्हें बचाने के सारे उपाय विफल साबित हुए। आज तक खतरनाक विकिरण के प्रभाव को कम करने का कोई तरीका नहीं खोजा जा सका है। फुकोसिमा की नाभिकीय दुर्घटना ने कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र के खिलाफ लोगों के संघर्ष को और तेज कर दिया। पहले प्रदर्शनकारियों में मछुआरों की संख्या सबसे अधिक थी, क्योंकि संयंत्र से निकलने वाला गरम पानी उनके मछली पालन के रोजगार को खत्म कर देता और वे भूखे मरने को विवश हो जाते।

2012 संघर्षों का साल था। सरकार ने दमन का रास्ता अपनाया। लगभग 5 हजार विशेष पुलिस बल पूरे क्षेत्र में लगा दिये गये। हजारों आन्दोलनकारियों पर आसूँ गैस के गोले दागे गये। लाठीचार्ज किया गया और देशद्रोह का मुकदमा लगाकर उन्हें अनियतकालीन समय के लिए जेल में बन्द कर दिया गया। लेकिन विरोध प्रदर्शनों का सिलसिला निरन्तर चलता रहा। सरकार की मनमानी का विरोध जताने के लिए 117 लोग भूख हड़ताल पर बैठ गये और नारा दिया "हमारी बस एक माँग, इस परियोजना को बन्द करो"। उनको आसपास के गाँवों से हजारों लोगों का समर्थन मिलने लगा। आन्दोलन को बढ़ता देख तत्कालीन मुख्यमंत्री जयललिता उनसे मिलने गयीं और उन्हें आश्वस्त किया कि संयंत्र पूरी तरह सुरक्षा मानकों से बना है और अगर कोई दिक्कत होगी तो वह बिल पास करके इसका विरोध करेंगी। उन्होंने लोगों को इसकी सफलता के लिए सरकार का साथ देने की अपील की। भूख हड़ताल वापस ले ली गयी। अचानक तीन दिन बाद जयललिता अपनी बात से पलट गयीं

और खुद को असहाय बताकर इस मामले को केन्द्र सरकार के अधीन बताया। विरोध करने वालों का आरोप था कि सरकार की तरफ से कभी किसी तरह की बातचीत की पहलकदमी नहीं हुई। आखिरकार 2013 में तमाम विरोधों को कुचलते हुए संयंत्र की पहली इकाई शुरू कर दी गयी और 2017 तक दूसरी, तीसरी और चौथी इकाइयों को भी शुरू कर दिया गया। अगली दो इकाइयों के लिए रूस से नया करार भी कर लिया गया।

कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र को लेकर पूरे देश में तमाम तरह के भ्रम भी फैलाये गये। एक नामी हस्ती ने इसे खुशहाल भविष्य का रास्ता बताया। न्यूक्लियर पावर कोर्पोरेशन ऑफ इंडिया लिमिटेड (एनपीसीआईएल) के चेयरमैन ने कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र में उपयोग किये गये रूसी रिएक्टरों को दुनिया की सबसे उन्नत तकनीक वाला बताया। लेकिन इन दावों की पोल जल्दी ही खुलने लगी, साल 2018 में हुई एनपीसीआईएल की मीटिंग में यह स्वीकार किया गया कि पिछले 5 सालों में नाभिकीय संयंत्र का शायद ही कोई उपकरण बचा होगा जो खराब न हुआ हो। खराबी बेहद संवेदनशील उपकरणों में भी देखने को मिली। इसका सबसे बड़ा उदहारण रिएक्टर-1 का एक पम्प है, जिसमें लगातार दिक्कत बनी रही, यह पम्प रिएक्टर से ऊष्मा को बाहर निकालने का काम करता है। अगर इसके काम करने में दिक्कत आ जाये तो तापमान बढ़ने की वजह से पूरा रिएक्टर फट सकता है और हानिकारक विकिरण बाहर आकर लाखों लोगों को अपनी चपेट में ले सकता है। लेकिन यह बात सरकार ने गुप्त रखी।

भारत में रूस से मँगाये गये नाभिकीय उपकरणों की खराबी की शुरुआत बहुत पहले ही हो गयी थी, 2011 में इसके परिक्षण के दौरान ही एक विस्फोट हुआ था जो आसपास के गाँवों तक सुनायी दिया था। अधिकारियों ने इसे केवल भाप का रिसाव बताकर मामला शान्त कर दिया था। 2008 में रूस ने जब यही रिएक्टर चीन को दिये थे, तब भी ऐसी ही दिक्कत आयी थी। लेकिन यह जानकर हैरानी होती है कि जहाँ चीन ने अपने सारे रिएक्टर वापस कर दिये थे और पूरे प्रोजेक्ट को 3 साल के लिए स्थगित कर दिया था, वहीं भारत में इतनी गम्भीर समस्या को नजरंदाज कर दिया गया और कुछ ही महीनों में उसे दुबारा चालू कर दिया गया। परिणाम यह कि 2011 से लेकर 2018 के बीच पम्प की 8 बार मरम्मत कराने की जरूरत पड़ी। याद रहे, इन्हें मरम्मत कराने के लिए रूस की मदद लेनी पड़ती है जिसके कारण लाखों डॉलर खर्च होते हैं। यह समस्या केवल पम्प तक ही सीमित नहीं है बल्कि "रिएक्टर प्रेशर वेसल", जो बहुत नाजुक उपकरण है, उसमें भी खराबी आने के चलते उसे 2013 में मरम्मत कराना पड़ा था जिसके लिए जर्मनी से विशेषज्ञ बुलाने की जरूरत पड़ी थी।

नाभिकीय संयंत्र में 'हीटर्स' का काम मुख्य होता है। यह रिएक्टर के दाब को कम करके पानी को उबालता है। अगर किसी वजह से यह काम करना बन्द कर दे तो उच्च दाब के कारण पूरा नाभिकीय संयंत्र एक बम में तब्दील हो सकता है। लेकिन हैरान करने वाली बात यह है कि संयंत्र के 27 हीटर्स में से 18 में गम्भीर गड़बड़ियाँ पायी गयीं। एनपीसीआईएल ने जल्दबाजी में इन्हें मरम्मत के लिए गुजरात की एक कम्पनी को भेजा लेकिन निराशा हाथ लगी। रूस से आये इंजीनियर भी इसे ठीक नहीं कर पाये। बाद में यूक्रेन की एक कम्पनी ने इसे ठीक किया। इसमें करोड़ों रुपये तो खर्च हुए ही, साथ ही साथ इसने निकट भविष्य में होने वाली किसी बड़ी दुर्घटना की सम्भावना को भी प्रमाणित कर दिया।

पिछले पाँच सालों में टरबाइन जनरेटर को 27 बार मरम्मत की जरूरत पड़ी। पूरी दुनिया में यह अपनी तरह का अलग ही मामला है, जब इतनी दिक्कतों के बाद भी नाभिकीय संयंत्र को बन्द करने के बजाय उसे और आगे बढ़ाया जा रहा है।

1988 में इकाई-1 और इकाई 2 की सम्भावित कीमत 6 हजार करोड़ रुपये आँकी गयी थी, जिसके कुछ समय बाद इसे दुगुना बताया गया और साल 2011 में रूस ने इसकी कीमत 13,171 करोड़ तक बढ़ा दी। इतना ही नहीं, इतनी बड़ी कीमत चुकाने के लिए खुद रूस ने भारत को कर्ज दिया, जिसके एवज में भारत से हजारों करोड़ रुपये ब्याज के रूप में वसूल लिये गये। चौंकाने वाली बात यह है कि नाभिकीय ईंधन की वास्तविक कीमत मात्र 2,129 करोड़ रुपये बतायी जा रही है। इससे कहीं आगे बढ़कर तीसरी और चौथी इकाई के लिए भारत सरकार ने इसके लिए 39,747 करोड़ रुपये चुकाये। इस पूरी परियोजना में रूस ने भारत को अपना नाभकीय कबाड़ बेचकर हजारों करोड़ कमा लिये और बदले में भारत सरकार ने अपनी जनता के लिए मौत को दावत दे दी।

रूस के रिएक्टर दुनिया के जिस भी कोने में गये, वहाँ यही समस्या देखने को मिली। लेकिन इतनी लापरवाही के साथ अपने देश की जनता को मौत के मुँह में धकेलने का काम शायद ही कहीं और देखने को मिले। दरअसल रूस ने भारत को '26वीवीर-1000' रिएक्टर दिये हैं। यह वही रिएक्टर है जो 1986 में चेर्नोविल नाभिकीय दुर्घटना के समय सोवियत रूस में प्रयोग किये जा रहे थे। इस दुर्घटना में विकिरण की चपेट में आने से हजारों लोगों को अपनी जान गवानी पड़ी थी और जो बच गये, वे भयंकर बीमारियों से तिल-तिल मरने के लिए मजबूर हो रहे हैं। इसके बाद सोवियत रूस में हर जगह इसके काम को

रोक दिया गया। आज रूस में इस नाभिकीय संयंत्र के पूरी तरह काम करने की स्थिति में होते हुए भी इसे एक संग्राहलय में तब्दील कर दिया गया है।

भारत सरकार ने देश के करोड़ों लोगों की जिन्दगी को खतरे में रखकर रूस में बेकार पड़े नाभिकीय कबाड़ को भारत लाने की अनुमति दे दी। जहाँ एनपीसीआईएल से लेकर प्रधानमंत्री तक ने इन रिएक्टरों की प्रमाणिकता की कसमें खायी थीं, जबकि तथ्यों से साफ पता चलता है कि रिएक्टर सुरक्षित नहीं हैं। दरअसल रिएक्टरों में 4 "स्टीम जनरेटर" उपयोग किये जाते हैं जिनकी मुख्य भूमिका होती है। इन्हें बनाने वाली 'जैयो-पोडोइस्क' नामक एक रूसी कम्पनी है, इस कम्पनी के मालिक को फरवरी 2012 में 'फेडरल सर्विस ऑफ रसिया' ने भ्रष्टाचार के मामलें में गिरफ्तार किया था। बाद में इस कम्पनी के कई घोटाले पकड़े गये थे। साफ है कि इस कम्पनी के बने उपकरणों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। लेकिन भारत सरकार ने इसे नजरअन्दाज कर दिया और सभी जनरेटर इसी कम्पनी से खरीद लिये। याद रहे एक एफिडेविट में सुप्रीम कोर्ट में सरकार ने इस जनरेटर को सही बताया था, जबकि 'एटॉमिक एनर्जी लेबोरेटरी, इंडिया' द्वारा इनकी जाँच की गयी तो उसमें 7 ट्यूब खराब मिली जो किसी भी बड़े हादसे के लिए जिम्मेदार हो सकती थी। अपनी जाँच-पड़ताल में उन्होंने स्वीकार किया कि 2 रिएक्टरों में तो भीषण खराबी है। इसके चलते मई 2014 में कुडानकुलम संयंत्र में एक हादसा भी हो चुका है जिसमें 6 कर्मचारियों को गम्भीर चोटें आयी थीं। विशेषज्ञों ने इस घटना का कारण 1986 में 'सर्री नाभिकीय दुर्घटना' के कारण से मिलता जुलता बताया, जिसमें लगभग 320 कर्मचारी मारे गये थे।

एनपीसीआईएल ने हर कदम पर देश की जनता से झूठ बोला। उसने पहले भी किसी भी तरह की जाँच-पड़ताल नहीं की बल्कि लगातार बड़ी-बड़ी कमियाँ सामने आने पर भी उन्हें नजरअन्दाज किया। उपकरणों की खामियों को छिपाने के साथ ही सरकार ने स्वास्थ्य सम्बन्धित मामलों में भी आस-पास के लोगों को गुमराह किया। डॉ मंजुला दत्ता ने अपने सर्वे में पाया कि नाभिकीय संयंत्र के 10 किलोमीटर के दायरे में रहने वाले लोगों में खतरनाक बदलाव देखने को मिले हैं। कैंसर के मरीजों की संख्या में बहुत तेजी से बढ़ोतरी हुयी। जहाँ पूरे देश में प्रति लाख पर 2 लोगों को कैंसर की सम्भावना रहती है, वहीं इसके आसपास के इलाकों में यह सम्भावना 600 प्रतिशत से अधिक मिली। सबसे ज्यादा नुकसान 5 साल तक के बच्चों में देखने को मिला। इनमें ब्लड कैंसर (लयूकेमिया) नामक बिमारी के लक्षण दिखे। यह बिमारी सबसे पहले जर्मनी के नाभिकीय संयंत्र के आसपास रहने वाले बच्चों में पायी गयी थी। कुडानकुलम नाभिकीय संयंत्र के 30 किलोमीटर के दायरे में लगभग 10 लाख लोग रहते हैं जिनके स्वास्थ्य को लेकर भारत सरकार के पास कोई जवाब नहीं है। भारत की जनता को इस परियोजना से कभी भी आ धमकने वाली मौत के सिवाय कुछ भी हासिल नहीं होगा जबकि रूस इस नाभिकीय समझौते के चलते मालामाल हो गया।

यह कहानी केवल एक नाभिकीय संयंत्र की नहीं है बल्कि भारत में ऐसे 27 संयंत्र खोलने की पेशकश की जा रही है। साल 2018 में भारत और फ्रांस के बीच हुए समझौते में नाभिकीय समझौता महत्त्वपूर्ण है, जिसमें महाराष्ट्र के जैतापुर में दुनिया का सबसे बड़ा नाभिकीय संयंत्र लगाने का करार हुआ है।

आज जर्मनी की सरकार यह निश्चय कर चुकी है कि 2022 तक वह अपने सभी नाभकीय संयंत्रों को बन्द कर देगी। स्विट्जरलैंड ने भी ऐसी ही घोषणा की है। जापान और इटली में भारी विरोध के कारण वहाँ की सरकारों ने नये संयंत्र लगाने से अपने कदम पीछे हटा लिये हैं। खुद रूस और अमरीका ने अपने देश में पिछले 2 दशकों से कोई नाभिकीय संयंत्र नहीं लगाया है। आज पूरी दुनिया के लोग इसके विनाशकारी नतीजों को समझ चुके हैं लेकिन इस नाभिकीय कबाड़ के कूड़ाघर के रूप में आज भारत विश्व पटल पर उभरता नजर आ रहा है। भारत सरकार इस काम में रूसी, जर्मन, फ्रांसीसी और अमरीकी साम्राज्यवादियों का पूरा साथ दे रही है और उनके मुनाफे की भूख को शान्त करने के लिए देश के करोड़ों निर्दोष लोगों और भावी पीढ़ियों को मौत का निवाला बनाने से भी कोई परहेज नहीं कर रही है। हमें "संघर्ष या मौत" के नारे के साथ लोगों को एकजुट कर इन देशी-विदेशी मौत के सौदागरों से लोहा लेना होगा। एकमात्र यही विकल्प आज हमारे जिन्दा रहने की शर्त है।

बीच के लोग

खाते-पीते, दहशत जीते
घुटते-पिटते बीच के लोग।
वर्ग-धर्म पटकनी लगाता,
माहुर माते बीच के लोग।

घर में घर की तंगी-मंगी,
भ्रम में भटके बीच के लोग।
लोभ-लाभ की माया लादे,
झटके खाते बीच के लोग।

घना समस्याओं का जंगल,
कीर्तन गाते बीच के लोग।
नीचे श्रमिक, विलासी ऊपर,
बीच में लटके बीच के लोग।

--शील

महिलाओं के लिए भारत सबसे असुरक्षित देश

--रुचि मित्तल

26 जून 2018 को 'द थॉमसन रॉयटर्स फाउंडेशन' द्वारा जारी रिपोर्ट में भारत को महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित देश बताया गया है। इसमें महिलाओं से जुड़े मुद्दों पर 550 महिला विशेषज्ञों की राय ली गयी और उन्हें संयुक्त राष्ट्र के कुल 193 सदस्य देशों में से महिलाओं के लिए सबसे असुरक्षित दस देशों के नाम बताने को कहा गया। थॉमसन रॉयटर्स की रिपोर्ट में जारी सूची के अनुसार सबसे असुरक्षित देशों में भारत पहले स्थान पर, अफगानिस्तान और युद्धग्रस्त सीरिया क्रमशः दूसरे और तीसरे स्थान पर तथा सोमालिया और सऊदी अरब जैसे देश चौथे और पाँचवें स्थान पर हैं। इस सूची में पाकिस्तान छठे नम्बर पर और अमरीका दसवें नम्बर पर है। यहाँ यह बताना भी आवश्यक होगा कि इससे पहले 2011 में कराये गये इसी तरह के सर्वेक्षण में महिलाओं के लिए सबसे खतरनाक देशों में क्रमशः अफगानिस्तान, कांगो, पाकिस्तान, भारत और सोमालिया थे। यानी पिछले सात सालों में भारत महिलाओं के लिए असुरक्षित देशों की सूची में चौथे से पहले पायदान पर पहुँच चुका है।

केन्द्र सरकार व अन्य पार्टियों के अधिकतर नेताओं ने इस रिपोर्ट पर चुप्पी साध ली है। महिला व बाल विकास मंत्रालय ने तो यह कहकर इस रिपोर्ट को खारिज कर दिया है कि यह रिपोर्ट सिर्फ और सिर्फ धारणा पर आधारित है। सरकार ने तो यहाँ तक कहा कि अब महिला सम्बन्धी ज्यादातर मामले दर्ज किये जा रहे हैं। इसलिए यह समस्या बढ़ी हुई लग रही है।

अगर पूरी रिपोर्ट पर गौर किया जाये तो पता चलेगा कि यह रिपोर्ट न तो किसी धारणा के आधार पर और न ही दर्ज किये गये आँकड़ों के आधार पर बनायी गयी है, बल्कि यह विश्व के 550 चुनिन्दा महिला विशेषज्ञों की राय के आधार पर बनायी गयी है। इन विशेषज्ञों में नीति निर्माता, सामाजिक टिप्पणीकार, गैर-सरकारी संगठनों के विशेषज्ञ, पत्रकार, स्वास्थ्य सेवा विशेषज्ञ, शिक्षाविद और मददगार संस्थानों के प्रतिनिधि शामिल थे जिन्होनें महिलाओं से सम्बन्धित 6 विषयों- स्वास्थ्य, भेदभाव, सांस्कृतिक परम्पराओं, यौन हिंसा, गैर-यौन हिंसा और घरेलू काम, जबरन शादी या जबरन मजदूरी के लिए मानव-तस्करी जैसे मुद्दों को केन्द्र में रखते हुए यह रिपोर्ट तैयार की है।

भारत जैसा देश जहाँ आज भी सबसे अधिक महिलाएँ कुपोषण का शिकार हों, जहाँ लड़के और लड़कियों के बीच भेदभाव संस्कृति में ही रचा-बसा हो, जहाँ प्रतिवर्ष लगभग 10 लाख लड़कियाँ भ्रूण-हत्या और उपेक्षा के कारण मर जाती हों, जहाँ लड़कियों पर हमले, छेड़खानी और बलात्कार जैसे मामले आम हों, वहाँ भारत के बारे में इस तरह की रिपोर्ट आना कोई अचम्भे की बात नहीं है। जहाँ सरकार को इस तरह की रिपोर्ट पर चिन्ता प्रकट करनी चाहिए, वहाँ वह तरह-तरह से अपने बचाव में लगी हुई है। इस सर्वे को खारिज करते हुए महिला आयोग की अध्यक्ष रेखा शर्मा का कहना है कि "भारत में महिलाएँ मुद्दों को लेकर अवगत हैं, ऐसा हो ही नहीं सकता कि किसी सर्वेक्षण में भारत को पहले स्थान पर रखा जाये। इस सर्वेक्षण की रिपोर्ट में जिन देशों को भारत के बाद स्थान दिया गया है, वहाँ महिलाओं को सार्वजानिक तौर पर बोलने तक की इजाजत नहीं है"। इस रिपोर्ट पर सरकार का इस तरह का रवैया देखकर साफ पता चलता है कि महिलाओं की सुरक्षा और बराबरी जैसे मुद्दों से सरकार को कोई लेना-देना नहीं, बस वह वाहीयात बयानों तक ही इसको सीमित रखना चाहती है। असलियत में इन समस्याओं से सरकार का कोई सरोकार नहीं है।

सरकारी आँकड़ों के ही अनुसार वर्ष 2007 से 2016 के बीच महिलाओं पर होने वाले अपराध में 83 फीसदी की वृद्धि हुई है। नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार यहाँ रोजाना 1000 से भी अधिक यौन उत्पीड़न के मामले दर्ज होते हैं। हर एक घण्टे में औसतन 4 बलात्कार के मामले सामने आते हैं। ऐसे में महिलाओं की स्थिति को उजागर करने के लिए किसी रिपोर्ट की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इसके बावजूद सरकार व महिला आयोग इन सच्चाईयों पर पर्दा डालने की कोशिशों में जुटे हैं। कुछ ही दिन पहले उत्तर प्रदेश के भाजपा विधायक सुरेन्द्र सिंह ने बयान दिया कि "बलात्कार समाज का स्वाभाविक प्रदूषण है, भगवान राम भी आ जायें तो भी इन घटनाओं पर नियंत्रण पाना सम्भव नहीं है"। भाजपा की ही सांसद किरण खेर के अनुसार, "बलात्कार तो सदियों से हो रहा है, ये संस्कृति का हिस्सा है, हम इसे रोक नहीं सकते।" निर्लज्जता की सीमा लाँघ चुके इन बयानों से जाहिर है कि सरकार महिलाओं की सुरक्षा को लेकर कितना सतर्क है। उल्टे, ये जनप्रतिनिधि अपने

बयानों से समाज में महिलाओं के खिलाफ बढ़ते अपराधों को सह दे रहे हैं। ऐसी सरकार से क्या उम्मीद की जा सकती है जिसने अभी तक भी खाप-पंचायतों को गैर-कानूनी करार नहीं दिया है जो अपनी पसन्द से विवाह करने के अधिकार के खिलाफ निर्णय देती रही हैं। यहाँ तक कि कठुआ में आठ साल की बच्ची आसिफा के साथ बलात्कार करने वालों के पक्ष में इस पार्टी के मंत्रियों ने तिरंगा जुलूस निकाला था और उन्नाव बलात्कार के मामले में इस पार्टी की सरकार ने बलात्कारियों को संरक्षण तक दिया, ये बात अब किसी से छिपी नहीं है।

थॉमसन रॉयटर्स फाउंडेशन की मुखिया मोनीक विला ने इंडिया स्पेंड को बताया कि "जहाँ दुनिया भर में 20 फीसदी महिलाओं के नाम पर अपनी जमीन है वहीं भारत में 10 फीसदी महिलाएँ जमीन की मालिक हैं। महिला हत्या दर के मामले में भारत दुनिया भर में सबसे ऊपर है। पुरुषों की संख्या यहाँ महिलाओं से 3 करोड़ 70 लाख ज्यादा है। 27 फीसदी लड़कियों की शादी 18 साल की उम्र से पहले ही कर दी जाती है। ये सब तथ्य इस मामले में भारत को दुनिया में सबसे आगे खड़ा करते हैं"। 2014 के आँकड़ों की ही बात की जाये तो भारतीय श्रम बल में 15 से 64 साल की आयु वर्ग की केवल 28.6 फीसदी महिलाओं की भागीदारी है जो बांग्लादेश (60.6 फीसदी) और नेपाल (83.1फीसदी) जैसे अति पिछड़े देशों से भी बहुत कम है। दिसम्बर 2017 की इंडिया स्पेंड की एक रिपोर्ट में बताया गया कि 2016 में महिलाओं के खिलाफ अपराध के प्रति घंटे औसतन 39 मामले दर्ज हुए, जबकि 2007 में यह सँख्या 21 थी।

अब अगर हम हाल ही की कुछ घटनाओं पर नजर डालें तो तस्वीर और साफ होती नजर आएगी। 21 जुलाई को मध्य प्रदेश के खंडवा जिले में एक लड़की को उसी के परिवार द्वारा दूसरी जाति के लड़के से प्रेम विवाह के मामले में जिन्दा जला दिया गया। अखबारों में आये दिन ऐसी दिल दहला देने वाली खबरें आती रहती हैं। इस तरह के उदाहरण हमारी समाज व्यवस्था की सच्चाई को सामने लाकर रख देते हैं जिसके अनुसार महिलाओं को अपने जीवन से सम्बन्धित फैसले लेने के अधिकार भी नहीं दिये गये हैं।

22 जुलाई को पश्चिमी उत्तर प्रदेश के अमरोहा जिले में एक युवती के साथ पहले एक युवक ने बलात्कार किया, फिर उसके गर्भवती हो जाने के बाद जबरन उसका गर्भपात करवाया और जब वह युवती इस घटना की रिपोर्ट दर्ज कराने अपने पाँच महीने के भ्रूण को थैले में लेकर जिले के हसन कोतवाली में पहुँची तो वहाँ के कोतवाल डीके शर्मा ने उल्टा उस युवती पर ही आरोप लगाया और यह बयान दिया कि लड़का और लड़की के पहले से सम्बन्ध थे जिसके कारण वह गर्भवती हुई और जब शादी के लिए लड़के पर दबाव बनाने लगी तो उससे बचने के लिए, लड़के को लड़की का गर्भपात करवाना पड़ा। 13 जुलाई को उत्तर प्रदेश के बांदा जिले में एक पुलिसकर्मी सहित 6 लोगों द्वारा एक युवती के साथ सामूहिक दुष्कर्म का मामला सामने आया। 1 जुलाई को उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में चौदह साल की मासूम बच्ची के साथ दो महीने तक सामूहिक बलात्कार किया गया और इस मामले में पुलिस द्वारा कोई कार्रवाई नहीं की गयी। हमारा पुलिस प्रशासन व न्याय व्यवस्था महिला के साथ कोई घटना हो जाने पर उसके प्रति क्या रुख अपनाती है, इन घटनाओं से साफ जाहिर है।

14 जुलाई को जम्मू-कश्मीर के आरएस पुरा भाजपा के विधायक गगन भगत पर उनकी पत्नी मोनिका ने धोखा देने और एक कॉलेज स्टूडेंट के साथ अवैध सम्बन्ध रखने का आरोप लगाया और साथ ही इसी कॉलेज स्टूडेंट के पिता ने विधायक पर अपनी बेटी के अपहरण का आरोप लगाया। जब हमारे देश के नेताओं और पुलिस प्रशासन का ही चरित्र ऐसा है तो हम सोच सकते हैं कि हमारे समाज में पितृसत्तात्मक सोच किस तरह से अपनी पैठ जमाये हुए है। नेता, पुलिस, सांसद, विधायक सभी इसी समाज व्यवस्था का हिस्सा हैं, इसलिए जब तक इस सोच को जड़ से खत्म नहीं किया जायेगा तब तक इस तरह की घटनाओं को रोक पाना बहुत मुश्किल होगा।

उत्तराखंड के शहर मसूरी के एक बोर्डिंग स्कूल, मसूरी इंटरनेशनल में रैगिंग के नाम पर सीनियर्स ने चार छात्राओं का बलात्कार किया। बिहार के मुजफ्फरपुर की घटना तो दिल दहला देने वाली है। मुजफ्फरपुर का एक बालिका गृह जिसको सरकार द्वारा पैसा दिया जाता है और एक एनजीओ द्वारा चलाया जाता है, उसमें रहने वाली 42 बच्चियों में से 37 के साथ बलात्कार और लगातार यौन शोषण होता रहा। ये बात अन्दर ही दफन रह जाती अगर टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज द्वारा 15 मार्च 2018 को किये गये ऑडिट में इस बात का खुलासा नहीं हुआ होता। ऑडिट की रिपोर्ट में यह भी बताया गया कि 2013 से 2018 के बीच यहाँ से 6 लड़कियाँ गायब हुई हैं। यहाँ तक कि वहाँ रहने वाली लड़कियों में से कुछ लड़कियों के गर्भवती होने की भी खबर है। इस शोषण का विरोध करने वाली एक बच्ची को पीट-पीट कर उसी बालिका गृह के प्रांगण में दफना दिया गया। इस बालिका गृह में रहने वाली लड़कियों की उम्र 7 से 15 साल के बीच है। इस पूरे मामले में जो लोग जिम्मेदार रहे वे और कोई नहीं बल्कि उस बालिका गृह के संरक्षक ही थे, जिन्हें सत्ता में बैठे लोगों का संरक्षण प्राप्त था। जाँच-पड़ताल के बाद, मुजफ्फरपुर के अलावा मुंगेर, भागलपुर और मोतिहारी सहित कई बालिका गृहों में भी यही कहानी दोहराये जाने की बात सामने आयी है।

हाल ही में 19 जून की एक खबर के अनुसार झारखण्ड में मानव तस्करी के खिलाफ अभियान चलाने वाली एक गैर

सरकारी संस्था से जुड़ी पाँच लड़कियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया गया। झारखण्ड के खूँटी जिले के अडकी क्षेत्र में जब इनकी टीम मानव तस्करी के खिलाफ नुक्कड़ नाटक करने पहुँची तो 5-6 लोगों ने बन्दूक के दम पर उनके साथ सामूहिक बलात्कार किया। हरियाणा के पंचकुला जिले के मोरनी हिल्स गेस्ट हाउस में 22 वर्षीय महिला से चार दिनों तक 40 लोगों ने बलात्कार किया। बलात्कारियों में 55 साल का एक बुजुर्ग व्यक्ति तक शामिल था। इससे अन्दाजा लगाया जा सकता है कि महिलाओं के साथ बर्बरता की घटनाएँ किस हद तक बढ़ चुकी हैं।

इस तरह की घटनाएँ रूह कंपा देने वाली हैं। पर अब सोचने वाली बात यह है कि इस तरह की घटनाएँ समाज में घटित न हों, और महिलाओं के लिए एक सुरक्षित समाज बन सके। इसके लिए आखिर क्या किया जाए? केवल सरकार और पुलिस प्रशासन द्वारा बनाये गये कानूनों और नियमों के भरोसे कुछ नहीं हो पायेगा। जो लोग खुद ही घटनाओं में लिप्त हैं उन्हें अपनी सुरक्षा की जिम्मेदारी देने का हश्र क्या होगा, ये ऊपर दी गयी घटनाओं के माध्यम से स्वतः स्पष्ट है। बलात्कार, यौन हिंसा औरतों के साथ गैर-बराबरी की जड़ें हमारी समाज व्यवस्था से जुड़ी हैं जो मर्द को श्रेष्ठ और औरत को कमतर करके देखती हैं। जहाँ आज भी औरत का काम घर की चारदीवारी में सिमटे रहना, पति की इच्छापूर्ति और वंश बढ़ाने जैसे कामों से अधिक कुछ भी नहीं है। महिलाओं को निजी सम्पत्ति के नाम पर या तो खुद उन्हीं के द्वारा बचाये गये कुछ पैसे-जेवर बताकर या शादी के बाद पति की सम्पत्ति को ही उसकी सम्पत्ति बताकर उसको बहला-फुसला दिया जाता है। यहाँ तक कि नौकरी कर रही औरतों का भी अपनी आर्थिक कमाई पर अधिकार नहीं होता। इसके साथ-साथ बाजार और मीडिया द्वारा जो औरतों की छवि पेश की जाती है उससे बस यही जाहिर होती है कि औरत एक "सेक्स ऑब्जेक्ट" से बढ़कर और कुछ भी नहीं। आज बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अपने मुनाफे के लिए औरतों के प्रति विकृत सोच को इस्तेमाल कर रही हैं।

जब हमारा पूँजीवादी समाज औरतों के लिए सामन्ती ढाँचे को ज्यों का त्यों बनाये हुए है, ऐसे में इस तरह की स्थिति होना तो लाजिमी ही है। आज स्त्री को आर्थिक रूप से आजाद होने के साथ-साथ अपने आपको सदियों पुरानी मानसिक गुलामी से भी आजाद करने की जरूरत है। आज वह समय नहीं जब केवल सरकार, पुलिस, न्याय व्यवस्था से इसके लिए गुहार लगायी जाये बल्कि इस समस्या को दूर करने के लिए सभी महिलाएँ अपने अधिकारों को जान-समझकर एकजुट हों और एक सामाजिक जन आन्दोलन के जरिये अपनी बराबरी और अधिकार की आवाज उठायें। तभी जाकर महिलाएँ इस समाज में रहकर बराबरी और सम्मान का सपना देख पाएँगी।

जॉन मुर्रे की कविता

इकुबुकेनी के पास ही
नताल दक्षिण अफ्रीका में
सिर पर लिए पानी का बर्तन
रोज निकलती है एक औरत
सूखा हुए एक साल बाद भी
जब उसके तीन बच्चों में से
एक है मौत के पंजों में।
वह लौटती है बहुत दूर किसी कुएँ से
ढोती है पानी सिर पर
सूख चुकी है बेलें कद्दू की,
मुरझा गये है सब पौधें टमाटर के
पर चुपचाप ढो ती रहती है पानी
अपने सिर पर
नाताल दक्षिण अफ्रीका में वह औरत।
खाली हो चुकी हैं गौशालाएँ
भुखमरी की शिकार हैं बकरियाँ भी।
दूध नहीं है नसीब अब बच्चों को
लेकिन
ढोती रहती है वह पानी
अपने सिर पर।
बाँध दिया है नदियों को
इंजीनियरों और उनके आकाओं ने
बनाएँ ताकि बिजली
पानी की शक्ति से
सिर्फ शक्तिशाली लोग ही
कर सकेंगे उपभोग
उस शक्ति का।
जानती है वह औरत।
शहर की खाली धूल भरी सड़कों पर
इन्तजार करती है जब भीड़
पानी के टैंकरों का,
एक औरत नहीं रुकती
करती है विश्वास बस खुद पर
और उस खजाने पर जिसे ढोती है वह
अपने सिर पर।
सूरज के बस में नहीं रोक पाना
उसके सख्त कदम
सूखे से जर्रा जर्रा दरकती हुई
असहय गर्मी से तपती हुई धरती भी
तोड़ न पाएगी उसकी जिद
ढोती है वह पानी अपने सिर पर
बदस्तूर ....

एक औरत पहने हुए
सेफ्टी पिनों की माला
गले में
जेवरों के नाम पर,
लेकिन सबसे बड़ा जेवर तो है
उसका विश्वास
जो वह करती है सिर्फ और सिर्फ
अपने सिर पर।
अपने लोगों के लिए
जूझ रहें हैं जो जीवन मृत्यु के बीच
ढोती है पानी दूर बहुत दूर से
उनके लिए
अपने सिर पर।

अनुवाद-- उषा नौडियाल

साधारण मनुष्य की उम्मीद का कवि वीरेन डंगवाल

--मंगलेश डबराल

'इन्हीं सड़कों से चल कर आते हैं आततायी/ इन्हीं सड़कों से चल कर आयेंगे अपने भी जन।' वीरेन डंगवाल 'अपने जन' के, इस महादेश के साधारण मनुष्य के कवि हैं। वे उन दूसरे प्राणियों और जड़-जंगम वस्तुओं के कवि भी हैं जो हमें रोजमर्रा के जीवन में अक्सर दिखायी देती हैं, लेकिन हमारे दिमाग में दर्ज नहीं होतीं। कविता के ये 'अपने जन' सिपाही रामसिंह और इलाहाबाद के मल्लाहों, लकड़हारों, रेलवे स्टेशन के फेरीवालों, डाकियों, अपने दोस्तों की बेटियों समता और भाषा, निराला, शमशेर, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार, पीटी उषा, तारंता बाबू, किन्हीं माथुर साहब और श्रोत्री जी तक फैले हुए हैं। मनुष्येतर जीवधारियों और वस्तुओं के स्तर पर यह संसार भाप के इंजन, हाथी, ऊँट, गाय, भैंस, कुत्ते, भालू, सियार, सूअर, मक्खी, मकड़ी, पपीते, इमली, समोसे, नींबू, जलेबी, पुदीने, भात और पिद्दी का शोरबा आदि तक हलचल करता है। इन जीवित-अजीवित चीजों से वीरेन का व्यवहार कितना आत्मीय और ऐंद्रीय है, इसके साक्ष्य उनकी बहुत सी रचनाओं में हैं। मसलन, 'फरमाइशें' में वे कहते हैं-- 'कुत्ते मुझे थोड़ा-सा स्नेह दे/गाय ममता/भालू मुझे दे यार/शहद के लिए थोड़ा/अपना मर्दाना प्यार/भैंस दे थोड़ा बैरागीपन/बन्दर फुर्ती/अपनी अक्ल से मुझे बख्शे रहना सियार'। इस कविता में कुत्ते, गाय, भालू, भैंस, बन्दर और सियार की अपनी-अपनी स्वभावगत और मासूम विशेषताओं का वर्णन है, लेकिन असल चीज शायद वह प्रेम और आत्मीयता है जो इन प्राणियों के प्रति कवि के भीतर से उमड़ती है। कवि सियार से भी यह कहता है कि मुझे तुम्हारी अक्ल यानी चालाकी की जरूरत नहीं है।

भाप इंजन को याद करती, नींबुओं को सलाम करती, पोस्टकार्डों की महिमा गाती, अधेड़ नैनीताल की उधेड़बुन में उलझती, फूलों से भरी हुई फरवरी का 'घुटनों चलती बेटी' की तरह स्वागत करती, जीव-जंतुओं और खाद्य पदार्थों की विलक्षण सत्ता का गुणगान करती इन कविताओं का उद्देश्य उनका एक 'लार्जर दैन लाइफ' रूपान्तरण करना नहीं, बल्कि उनके अपने अस्तित्व को, एक खास और संक्षिप्त अर्थवत्ता और उस छोटे से प्रकाश को दिखलाना है जिसे हम प्रायः अनदेखा किये रहते हैं। साधारण चीजों की एक असाधारण दुनिया दिखाने का काम हिन्दी कविता में कुछ हद तक हुआ है, लेकिन वीरेन की कविता जैसे एक जिद के साथ कहती है कि मामूली लोग और मामूली चीजें दरअसल उसी तरह हैं जिस तरह वे हैं और इसी मामूलीपन में उनकी सार्थकता है, जिसे पहचानना उनके जीवन का सम्मान करना है और हम जितना अधिक ऐसे जीवन को जानेंगे, उतने अधिक मानवीय हो सकेंगे।

वीरेन के अड़सठ वर्षीय जीवन-काल (जन्म-- 5 अगस्त 1947; निधन-- 28 सितम्बर 2015) में तीन कविता संग्रह, कुछ छिटपुट लेख और 'पहल पुस्तिका' के रूप में तुर्की के क्रान्तिकारी महाकवि नाजिम हिकमत की कविताओं के अनुवाद प्रकाशित हुए। यह सफर 1991 में 'इसी दुनिया में' से शुरू हुआ हालाँकि तब तक 'रामसिंह', 'पीटी उषा', 'मेरा बच्चा', 'गाय', 'भूगोल-रहित', 'दुख', 'समय' और 'इतने भले नहीं बन जाना साथी' जैसी कविताओं ने वीरेन को मार्क्सवाद की ज्ञानात्मक संवेदना से अनुप्रेरित ऐसे प्रतिबद्ध और जन-पक्षधर कवि की पहचान दे दी थी, जिसकी आवाज अपने समकालीनों से कुछ अलहदा और अनोखी थी और अपने पूर्ववर्ती कवियों से गहरा संवाद करती थी। उसमें खास तौर पर निराला और शमशेर बहादुर सिंह के काव्य-विवेक की रोशनी थी। 'इसी दुनिया में' की कुछ कविताएँ कवि की मूल प्रस्थापनाओं का घोषणा-पत्र जैसी मानी जा सकती हैं--

मैं ग्रीष्म की तेजस्विता हूँ
और गुठली जैसा
छिपा शरद का ऊष्म ताप
मैं हूँ वसन्त का सुखद अकेलापन
जेब में गहरी पड़ी मूँगफली को छाँट कर
चबाता फुरसत से
मैं चेकदार कपड़े की कमीज हूँ
उमड़ते हुए बादल जब रगड़ खाते हैं
मैं उनका मुखर गुस्सा हूँ।

आत्मकथ्य सरीखी इन पंक्तियों में वीरेन की काव्य संवेदना के प्रमुख सरोकार साफ हो जाते हैं। उसमें अनुभव की उदात्तता है तो रोजमर्रा की मामूली चीजों के प्रति गहरा लगाव भी। ग्रीष्म की तेजस्विता और शरद की ऊष्मा और वसन्त के सुखद अकेलेपन के साथ जेब में पड़ी मूँगफली और चेकदार कमीज की उपस्थिति एक नया यथार्थ और नया सौंदर्यशास्त्र निर्मित करती है। यहाँ उदात्त

अनुभवों और साधारण दुनियावी चीजों में कोई बुनियादी विभेद नहीं है, अमूर्तनों और भौतिक उपस्थितियों के बीच कोई दूरी नहीं है, बल्कि वे एक दूसरे के साथ और उनके भीतर भी अस्तित्वमान और पूरक हैं।

मामूलीपन और नगण्यता के जिस गुणगान के लिए वीरेन की कविता पहचानी गयी, उसकी शुरुआत इस तरह की बहुत सी और खासकर 'पीटी उषा' जैसी कविताओं से हुई थी जिसमें वीरेन क्रिकेट की संभ्रान्तता के बरक्स एक दुबली-पतली धावक पीटी उषा के खेल की अपेक्षाकृत निम्नवर्गीयता, उसके सामान्य चेहरे और साँवलेपन को उभारते हुए उसे 'मेरे गरीब देश की बेटी' कहकर सम्बोधित करते हैं-- 'उसकी आँखों की चमक में जीवित है अभी/भूख को पहचानने वाली विनम्रता/ इसीलिए चहरे पर नहीं है/ सुनील गावस्कर की छटा।' वे उसे सलाह देते हैं कि अगर खाना खाते समय तुम्हारे मुँह से चपचप की आवाज होती है तो यह अच्छा है क्योंकि जो लोग 'बेआवाज जबड़े को सभ्यता मानते हैं/ वे दुनिया के सबसे खाऊ और इसलिए खतरनाक लोग हैं।'

ये कविताएँ जिस दौर में लिखी गयीं, वह नेहरू युगोत्तर मोहभंग की सामाजिक-बौद्धिक-राजनीतिक उथल-पुथल, नक्सलबाड़ी की 'वसन्त गर्जना' और उसके क्रूर दमन, विश्व स्तर पर वियतनाम युद्ध के विरोध, अमरीका की विद्रोही बीट पीढ़ी की अराजकता और काली या अश्वेत चेतना से उबलता हुआ था। वीरेन की संवेदना पर भी इस वैश्विक उभार की गहरी छाप पड़ी। उन्हीं दिनों आलोकधन्वा की 'जनता का आदमी' और 'गोली दागो पोस्टर', लीलाधर जगूड़ी की 'बलदेव खटिक' और वीरेन की 'रामसिंह' नक्सलबाड़ी संघर्ष की प्रमुख कविताओं के रूप में चर्चित हुईं और नाटकों की शक्ल में भी मंचित की गयीं। इन कविताओं का मुख्य सरोकार मनुष्य का शोषण-दमन करने वाली शासक शक्तियों का प्रतिरोध करना, क्रान्ति का स्वप्न जगाना और मानवीय अच्छाई और समानता के संघर्ष की अनिवार्यता को रेखांकित करना था। 'रामसिंह' एक गरीब पहाड़ी परिवार के बेटे और फौजी सिपाही को सालाना छुट्टी पर घर जाते हुए देखती है और उसे आत्म-साक्षात्कार के बिन्दु तक ले जाती है--

तुम किसकी चौकसी करते हो रामसिंह?
तुम बन्दूक के घोड़े पर रखी किसकी उँगली हो?
किसका उठा हुआ हाथ?
किसके हाथों में पहना हुआ काले चमड़े का नफीस दस्ताना?
जिन्दा चीज में उतरती हुई किसके चाकू की धार?
कौन हैं वे, कौन
जो हर समय आदमी का एक नया इलाज ढूँढ़ते रहते हैं?
जो रोज रक्तपात करते हैं और मृतकों के लिए शोकगीत गाते हैं
जो कपड़ों से प्यार करते हैं और आदमी से डरते हैं
वे माहिर लोग हैं रामसिंह
वे हत्या को भी कला में बदल देते हैं

यह कविता अपने क्रान्तिकारी वक्तव्य के अलावा रामसिंह के फौजी जीवन के ब्यौरों के साथ पहाड़ के स्मृति-बिम्बों को एक विरोधाभासी कथ्य-संयोजन में रखने की वजह से भी याद की गयी। ऐसे बिम्ब तब तक हिन्दी कविता में बहुत नहीं आये थे-- 'पानी की तरह साफ खुशी', 'घड़े में गड़ी हुई दौलत की तरह रक्खा गुड़', 'हवा में मशक्कत करते पसीजते चीड़ के पेड़', 'नींद में सुबकते घरों पर गिरती हुईं चट्टानें', 'घरों में भीतर तक घुस आता बाघ' ऐसे ही सघन दृश्य हैं। हाथी, ऊँट, गाय, पपीता, इमली, समोसे वगैरह पर लिखी कविताओं की संरचना विवरणात्मक और निबंध सरीखी है। 'गाय' कविता की प्रारम्भिक पंक्तियाँ 'वह एक गाय है/धुँधला सफेद है उसका रंग/ वह घास चर रही है/ वहाँ जहाँ बरसात ने मैदान बना दिया है/ जब वह चरती है तो चर्र-चर्र करती है' तीसरी-चौथी कक्षा के किसी बच्चे के वाक्यों की याद दिलाती है जिसे परीक्षा में गाय पर निबंध लिखने के लिए कहा गया हो। यह संघ परिवार की करतूतों और साम्प्रदायिक धर्मतंत्र द्वारा एक आक्रामक धार्मिक प्रतीक में बदल दी गयी गाय नहीं, बल्कि भारतीय गाँवों और किसान जीवन के 'सेकुलर स्पेस' की प्राणी है।

मुक्तिबोध ने जब 'कविता की स्थानान्तरगामी प्रवृत्ति' की जरूरत का जिक्र किया था तो उनका आशय ऐसे ही विस्तारों से रहा होगा। 'तोप' शीर्षक कविता इसकी एक सुन्दर मिसाल है जो कवि की प्रतिबद्धता, अन्याय के साधनों और जन-संघर्षों से जुड़ी ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को बतलाती है। सन् 1857 की जन-क्रान्ति का दमन करने के काम आयी एक औपनिवेशिक तोप का मौजूदा हाल यह है कि उस पर बच्चे घुड़सवारी करते हैं और चिड़ियाँ कभी उसके ऊपर और कभी भीतर बैठकर गपशप करती हैं। अन्त में कवि कहता है-- 'कितनी भी बड़ी हो तोप/ एक दिन तो होना ही है उसका मुँह बन्द।' दरअसल वीरेन आरम्भ से ही एक अलग किस्म के कवि के रूप में सामने आये और 'इसी दुनिया में' आठवें दशक की कविता का एक प्रमुख दस्तावेज बन गया।

ग्यारह साल बाद सन 2002 में वीरेन का दूसरा संग्रह 'दुश्चक्र में स्रष्टा' प्रकाशित हुआ, जिस पर उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। कुछ समय तक यह तुलना भी होती रही कि दोनों संग्रहों में से कौन-सा बेहतर है। निश्चय ही, 'दुश्चक्र में स्रष्टा' पहले संग्रह से आगे का कदम था-- शिल्प-सजगता और भाषा के स्तर पर कहीं अधिक परिपक्व, लेकिन संवेदना की आधार-भूमि पहले जैसी थी। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि अच्छे कवियों की मूल भूमि बदलती नहीं है, उनका वास्तविक निवास वही रहता है, सिर्फ उनका जलागम-क्षेत्र कैचमेंट एरिया विस्तृत होता रहता है और संवेदना ग्रहण करने के स्रोत बढ़ते जाते हैं। खास बात यह है कि वीरेन की

ज्यादातर वे कविताएँ बेहतर मानी गयीं जिनमें कहीं-न-कहीं 'इसी दुनिया में' की ऊष्मा और विकलता का विस्तार था।

'दुश्चक्र में स्रष्टा' वीरेन की बेहतरीन कविताओं में शामिल है। यह किसी अज्ञात ईश्वर, किसी 'करुणानिधान' से किये गये शिकवे की तरह है, जिसमें प्रकृति के विशाल कारोबार को, नदी, पर्वत, हाथी की सूँड़, कुत्ते की जीभ और दुम, मछली, छिपकली और आदमी की आँतों के जाल को 'भगवान का कारनामा' करार देते हुए समकालीन यथार्थ का भयावह परिदृश्य है और मौजूदा अमानुषिकताओं-विरूपणों के बारे में विचलित करने वाले सवाल पूछे गये हैं--

नहीं निकली कोई नदी पिछले चार-पाँच सौ सालों से
जहाँ तक मैं जानता हूँ
न बना कोई पहाड़ या समुद्र
एकाध ज्वालामुखी जरूर फूटते दिखाई दे जाते हैं कभी-कभार।
बाढ़ें तो आयीं खैर भरपूर, काफी भूकम्प,
तूफान खून से लबालब हत्याकांड अलबत्ता हुए खूब
खूब अकाल, युद्ध एक से एक तकनीकी चमत्कार
रह गयी सिर्फ एक सी भूख, लगभग एक सी फौजी
वर्दियाँ जैसे
मनुष्य मात्र की एकता प्रमाणित करने के लिए
एक जैसी हुंकार, हाहाकार!
प्रार्थनागृह जरूर उठाये गये एक से एक आलीशान!
मगर भीतर चिने हुए रक्त के गारे से
वे खोखले आत्माहीन शिखर-गुम्बद-मीनार
ऊँगली से छूते ही जिन्हें रिस आता है खून!
आखिर यह किनके हाथों सौंप दिया है ईश्वर
तुमने अपना इतना बड़ा कारोबार?

'दुश्चक्र में स्रष्टा' हमारे समाज, लोकतंत्र और मनुष्य की आत्मिक संरचना में आये क्षरण और गिरावट को दर्ज करती है। 'हड्डी खोपड़ी खतरा निशान' में जब वीरेन कहते हैं कि 'अब दरअसल सारे खतरे खत्म हो चुके हैं/ प्यार की तरह' तो वे एक आत्म-केन्द्रित, खुदगर्ज और संवेदना-रहित होते जाते समाज पर गहरा व्यंग्य करते हैं। ऐसी रचनाओं में खास तौर से लोकतंत्र पर बढ़ने वाले संकटों और साम्प्रदायिक ताकतों के उन्माद की तीखी प्रश्नाकुल चीरफाड़ मिलती है-- 'पर हमने कैसा समाज रच डाला है/ इसमें जो दमक रहा, शर्तिया काला है/ वह कत्ल हो रहा सरेआम सड़कों पर/ निर्दोष और सज्जन, जो भोला-भाला है/ किसने ऐसा समाज रच डाला है/ जिसमें बस वही दमकता है जो काला है?' अयोध्या में बाबरी मस्जिद के साजिशी विध्वंस की त्रासदी पर लिखते हुए वीरेन दो कविताओं में निराला को याद करते हैं और राम और निराला, दोनों को सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की साम्प्रदायिक-फासिस्ट ताकतों के प्रतिरोध का औजार बना देते हैं। 'अयोध्या-फैजाबाद' भी निराला की एक कविता-पंक्ति को उद्धृत करते हुए कहती है--

वह एक और मन रहा राम का
जो न थका
इसीलिए रौंदी जा कर भी
मरी नहीं हमारी अयोध्या
इसीलिए हे महाकवि, टोहता फिरता हूँ मैं
इस
अँधेरे में
तेरे पगचिन्ह।

एक छन्दबद्ध कविता 'उजले दिन जरूर' में भी देश और समाज के हालात बतलाने के लिए निराला की 'राम की शक्ति पूजा' का सन्दर्भ है-- 'आकाश उगलता अंधकार फिर एक बार/ संशय विदीर्ण आत्मा राम की अकुलाती/...होगा वह समर, अभी होगा कुछ और बार/ तब कहीं मेघ ये छिन्न-भिन्न हो पायेंगे/ आयेंगे उजले दिन जरूर आयेंगे।' 'रात-गाड़ी' भी संग्रह की एक अहम कविता है हालाँकि उसकी चर्चा ज्यादा नहीं हुई। वह 'दीन और देश' यानी नैतिकता और समाज के विकृत-अमानवीय परिदृश्य की पड़ताल करती है जहाँ एक तरफ 'बेरोजगारों के बीमार कारखानों जैसे विश्वविद्यालय' हैं, 'राजधानियाँ गुंडों के मेले हैं', 'कलावा बाँधे गदगद खल विदूषक' हैं जो 'सोने के मुकुट पहनकर फोटो उतरवा रहे' हैं, और दूसरी तरफ 'बेघर बेदाना बिना काम के मेरे लोग/ चिंदियों की तरह उड़े चले जा रहे हैं/ हर ठौर देश की हवा में।' दो विसंगतियों को एक साथ रखने की इस प्रविधि में हमें पूरा देश दिखायी दे जाता है जिसकी आखिरी पंक्तियों में कवि कहता है-- 'खुसरो की बातों में संशय है/ खुसरो की बातों में डर है/ इसी रात में अपना भी घर है'। 'माथुर साहब को नमस्कार' भी ऐसी ही कम चर्चित कविता है, जो दो व्यक्तियों के माध्यम से मनुष्यता की निरन्तरता और उसमें कवि की अटूट आस्था को मर्म छूने वाले ढंग से रेखांकित कर जाती है। इस प्रसंग में कवि को कहीं अचानक अपने गणित के दिवंगत अध्यापक माथुर साहब दिखायी दे जाते हैं, लेकिन फिर पता चलता है कि वे कोई श्रोत्री जी हैं जिन्हें कवि ने माथुर सर समझ कर नमस्कार किया है। माथुर साहब की अनुपस्थिति में श्रोत्री जी की उपस्थिति समूची मनुष्य जाति से प्रेम का एक मार्मिक वक्तव्य निर्मित करती है-- 'लोगों में ही दीख जाते हैं लोग भी/ लोगों में ही वे बच रहते हैं/ किसी चमकदार सुघड़ मजबूत विचार की तरह/ दीख जाते हैं कौंधकर जब लग रहा होता है 'सब कुछ खत्म हुआ'/शुक्रिया श्रोत्रीजी माथुर सर शुक्रिया/याद रखूँगा मैं अपना सीखा गणित का एकमात्र सूत्र/ 'शून्य ही है सबसे ताकतवर संख्या/ हालाँकि सबसे नगण्य भी।'

एक और कविता 'सूअर का बच्चा' वीरेन की बारीक निरीक्षण क्षमता, ब्यौरों की पकड़, छन्द-प्रयोग और ठेठ देसी किस्म के सौंदर्यशास्त्र का सुन्दर उदाहरण है। पहली बारिश में 'धुल-पुँछकर अंग्रेज' बना हुआ सूअर का बच्चा अपनी आंखों से सड़क के जो दृश्य देखता है, उनका इतना राग-भरा वर्णन एक दुर्लभ अनुभव है जो वीरेन के अलावा शायद नागार्जुन या त्रिलोचन या नगरीय प्रसंगों में रघुवीर सहाय के यहाँ ही मिल सकता है। वे एक कस्बे की सड़क के दृश्य हैं जिनमें आम तौर पर कोई आकर्षण नहीं होता, लेकिन वीरेन सूअर के बच्चे की आँखों से देखे गये दृश्यों को इतना कोमल और उदात्त बना देते हैं कि वह एक क्लासिकी अनुभव में बदलने लगता है-- 'पहले-पहल दृश्य दीखते हैं इतने अलबेले/ आँखों ने पहले-पहले अपनी उजास देखी है/ ठंडक पहुँची सीझ हृदय में अद्भुद मोद भरा है/ इससे इतनी अकड़ भरा है सूअर का बच्चा।' पहले इस कविता का उपशीर्षक 'सूअर के बच्चे का प्रथम वर्षा दर्शन' था। सूअर का बच्चा वीरेन की निगाह में किसी भी दूसरे मानवीय या मानवेतर शिशु जैसी ही, बल्कि शायद उससे भी अधिक कोमल-निश्छल उपस्थिति है। दरअसल मनुष्यों, पशु-पक्षियों, वनस्पतियों और खाद्य सामग्री का भी एक निम्न वर्ग, एक 'सबॉल्टर्न' होता है, जिससे वीरेन को मानव जाति जैसा ही लगाव है। 'समोसे' इस सन्दर्भ में एक प्रतिनिधि उदाहरण है। इसमें एक आम निम्नवर्गीय दुकान का जिक्र है जहाँ 'कढ़ाई में सनसनाते समोसे' बन रहे हैं-- 'बड़े झरने से लचक के साथ/ समोसे समेटता कारीगर था/दो बार निथारे उसने झन्नफन्न/ यह दरअसल उसकी कलाकार/ इतराहट थी/ तमतमाये समोसों के सौंदर्य पर/ दाद पाने की इच्छा से पैदा', और फिर 'कौन अभागा होगा इस क्षण/ जिसके मन में नहीं आयेगी एक बार भी/ समोसा खाने की इच्छा।' जब कवि समोसे खाने के लिए लपकता है, तब तक समोसे बनाता कलाकार और समोसे की कलात्मकता इतने स्वायत्त हो उठते हैं कि अपना सौंदर्यशास्त्र निर्मित कर लेते हैं और उनके सामने समोसे के लिए ललचाता व्यक्ति कुछ अप्रासंगिक हो उठता है। वीरेन का हुनर यह है कि वे मनुष्य के उपभोग में आने वाली चीजों को मनुष्य से अलग करके स्वतंत्र और स्वायत्त बना देते हैं।

वीरेन की संवेदना के एक सिरे पर नागार्जुन जैसे जनकवि का देसीपन और यथार्थवाद है तो दूसरे सिरे पर शमशेर जैसे 'सौंदर्य के कवि' हैं और दोनों के बीच कही निराला की उपस्थिति है। तीनों मिलकर उनके काव्य- विवेक की त्रिमूर्ति निर्मित करते हैं और अपने वक्त के अँधेरे से लड़ने की राह दिखाते हैं-- 'कवि हूँ मैं पाया है प्रकाश।' 'शमशेर' शीर्षक कविता एक बड़े कवि के विकल जीवन को बहुत कम शब्दों में दर्ज करती है-- 'अकेलापन शाम का तारा था/ इकलौता/ उसे मैंने गटका/ नींद की गोली की तरह/ मगर मैं सोया नहीं।'

वीरेन का तीसरा संग्रह 'स्याही ताल' सन 2010 में प्रकाशित हुआ, जिसमें उनकी बेचैनी और बेफिक्री, समकालीन हताशा और बुनियादी उम्मीद के भरपूर साक्ष्य मिलते हैं। 'कटरी की रुकुमिनी और उसकी माता की खंडित कथा' जैसी कुछ लम्बी कविता में वीरेन अपने भयावह समय को एक खंडित गद्यात्मक कथा में पढ़ते हैं। यह एक चिंतित मनुष्य की कविता है जो समाज के 'सड़ते हुए जल' में देखता है कि किस तरह एक कस्बाई जीवन में ग्राम प्रधान, दारोगा और स्मैक तस्कर वकील का भ्रष्ट त्रिकोण घुसपैठ कर चुका है। वह एक गरीब विधवा की चौदह वर्ष की बेटी को अपना शिकार बनाना चाहता है। यह एक दुर्वह-दुस्सह अनुभव के ब्यौरों की कविता है जिसके और भी बर्बर और डरावने रूप आज हमारे समाज में बढ़ रहे बलात्कारों, बेरहमियों और हिंसा में दिखाई दे रहे हैं।

'स्याही ताल' वीरेन डंगवाल के जीवन की दो त्रासद घटनाओं का दस्तावेज भी है-- पिता की मृत्यु और खुद की बीमारी, जो सारी उम्मीदों के खिलाफ असाध्य और अन्ततः प्राणघातक बनती गयी। 'रॉकलैंड डायरी' बीमारी के दौरान अस्पताल में देखे-सोचे गये दृश्यों की डरावनी फैंटेसी है और अनायास मुक्तिबोध की प्रसिद्ध कविता 'अँधेरे में' की याद दिलाती है-- 'विभ्रम/ दुःस्वप्न /कई धारावाहिक कूट कथाओं की रीलें/ अलग-बगल एक साथ चलतीं/ जनता, हाँ जनता को रौंद देने के लिए उतरीं/ फौजी गाड़ियों की तरह/ हृदय में घृणा और जोश भरे/ साधु-सन्त-मठाधीश-पत्रकार दौलत के लिज-गिल-गिल/ पिछलग्गू / ललकारते जाति को एक नये विप्लव के लिए।' चार कवितांश पिता की बीमारी, मृत्यु, अन्तिम संस्कार और फिर स्मृति से सम्बन्धित हैं और अन्त में पिता स्मृति में इस तरह बच रहते हैं-- 'एक शून्य की परछाई के भीतर/ घूमता है एक और शून्य पहिये की तरह/ मगर कहीं न जाता हुआ/ फिरकी के भीतर घूमती एक और फिरकी/ शैशव के किसी मेले की।' लेकिन गौरतलब है कि तमाम हताशाओं के बावजूद वीरेन उस उम्मीद को कभी ओझल नहीं होने देते जो यह मानती है कि 'आदमी कमबख्त का सानी नहीं है/फोड़कर दीवार कारागार की इंसाफ की खातिर/तलहटी तक ढूँढता है स्वयं अपनी राह।' अपने जहाजी बेटे के लिए लिखी गयी इस कविता 'उठा लंगर खोल इंजन' में वीरेन कहते हैं-- 'हवाएँ रास्ता बतलायेंगी/ पता देगा अडिग रुख/ चम-चम-चमचमाता/ प्रेम अपना/ दिशा देगा/ नहीं होंगे जबकि हम तब भी हमेशा दिशा देगा/लिहाजा/ उठा लंगर खोल इंजन छोड़ बन्दरगाह।'

गम्भीर बीमारी और सर्जरी के बावजूद वीरेन ने लिखना जारी रखा और उनकी जो भी अब तक असंकलित कविताएँ हैं, वे दो बदलावों का संकेत करती हैं-- वे संवेदना और अनुभव के उन स्रोतों की ओर मुड़ रहे थे जिनमें या तो स्थानीयता और कुछ 'पहाड़ीपन' था या जिनसे 'रामसिंह' जैसी जुझारू कविता सम्भव हुई थी और

शिल्प के स्तर पर भी वे उस रास्ते को अपना रहे थे जिसका जिक्र उन्होंने पिछले संग्रह में किया था-- 'इसीलिए एक अलग रस्ता पकड़ा मैंने/ फितूर सरीखा एक पक्का यकीन।' एक लम्बी नाटकीय रचना 'परिकल्पित कथालोकान्तर काव्य-नाटिका नौरात शिवदास और सिरीभोग वगैरह' खास तौर से ध्यान खींचती है जो लोक-कथा की शक्ल में एक प्रतिभाशाली दलित ढोल-कलाकार और एक रानी के प्रेम सम्बन्धों और राजा द्वारा उसकी हत्या के षडयंत्र के इर्दगिर्द बुनी गयी है, लेकिन खास बात यह है कि सोने की तलवार से मारे जाने से पहले ही ढोलवादक राजा को पीटकर फरार हो जाता है। इस घटना के वर्षों बाद उस वादक का पोता शिवदास कथा के प्रसंग में एक नया गीत जोड़ता हुआ एक बड़े संघर्ष का आह्वान करता है--

राज्जों, वजीरों का, शास्त्रों-पुराणों का नाश हो
जिन्होंने हमें गुलाम बनाया
इन तैंतीस करोड़ देवताओं का नाश हो
जो अपनी आत्मा जमाये बैठे हैं
हिमालय की बर्फीली चोटियों में
किसने सताया तुम्हें-हमें
इन पोथियों-पोथियारों, ताकतवालों ने
इनका नाश हो

इस रास्ते पर आगे बढ़ते हुए वीरेन कविता के नये पड़ावों की ओर जा रहे थे, लेकिन असामयिक और दुखद मृत्यु ने उनके सफर को रोक दिया। उनकी आखिरी कविताओं में यह एहसास विकल रूप में दिखता है हालाँकि उसके साथ उम्मीद का दामन भी नहीं छूटता-- 'ये दिल मेरा ये कमबख्त दिल/ डॉक्टर कहते हैं ये फिलहाल सिर्फ पैंतीस फीसद काम कर रहा है/ मगर ये कूदता है शामी कबाब और आइसक्रीम खाता है/ भागता है/ शामिल होता है जुलूसों में धरनों पर बैठता है/ इन्कलाब जिन्दाबाद कहते हुए/ या कोई उम्दा कविता पढ़ते हुए अब भी भर लाता है/ इन दुर्बल आँखों में आँसू/ दोस्तो-साथियो मुझे छोड़ना मत कभी/ कुछ नहीं तो मैं तुम लोगों को देखा करूँगा प्यार से/ दरी पर सबसे पीछे दीवार से सटकर बैठा।'

इसी नाउम्मीद सी उम्मीद के भीतर वीरेन मौजूदा देश-समाज का जायजा लेने से नहीं चूकते-- 'हमलावर बढ़े चले आ रहे हैं हर कोने से/ पंजर दबता जाता है उनके बोझे से/ मन आशंकित होता है तुम्हारे भविष्य के लिए/ ओ मेरी मातृभूमि ओ मेरी प्रिया/ कभी बतला भी न पाया कि कितना प्यार करता हूँ तुमसे मैं।' यह गौरतलब है कि वैचारिक प्रतिबद्धता और जनता के संघर्षों पर विश्वास वीरेन डंगवाल की कविता और व्यक्तित्व में अन्त तक बने रहे और उनकी आरम्भिक प्रस्थापना की ताईद करते रहे-- 'एक कवि और कर भी क्या सकता है/ सही बने रहने के अलावा।' यह आकस्मिक नहीं है कि रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध कविता का 'रामदास' वीरेन के आखिरी दौर में अस्पताल में असाध्य बीमार पड़े हुए 'रामदास-2' के रूप में लौट आता है।

हर कवि की एक मूल संवेदना होती है जिसके इर्द-गिर्द उसके तमाम अनुभव सक्रिय रहते हैं। इस तरह देखें तो वीरेन के काव्य-व्यक्तित्व की बुनियादी भावना प्रेम है। ऐसा प्रेम किसी भी अमानुषिकता और अन्याय का प्रतिरोध करता है और उन्मुक्ति के संघर्षों की ओर ले जाता है। ऐसे निर्मम समय में जब समाज में लोग ज्यादातर घृणा कर रहे हों और प्रेम करना भूल रहे हों, मनुष्य के प्रति प्रेम की पुनर्प्रतिष्ठा ही सच्चे कवि का सरोकार हो सकता है। शायद इसीलिए वीरेन की कविता में वर्गशत्रु या अंधेरे की ताकतों से नफरत उतनी नहीं है, बल्कि बर्बर ताकतों का तिरस्कार ज्यादा है। यह कविता इसीलिए एक अजन्मे बच्चे को माँ की कोख में फुदकते, रंगीन गुब्बारे की तरह फूलते-पचकते, कोई शरारत-भरा करतब सोचते हुए महसूस करती है या दोस्तों की बेटियों को एक बड़े भविष्य का दिलासा देती है। एक पेड़ के पीले-हरे उकसे हुए, चमकदार पत्तों को देखकर वह कहती है-- 'पेड़ों के पास यही तरीका है/ यह बताने का कि वे भी दुनिया को प्यार करते हैं।' शायद इसीलिए वीरेन 'कत्थई गुलाब वाले' शमशेर के बहुत निकट हैं, उन्हें बार-बार याद करते हैं और शमशेर के जीवन का निचोड़ और खुद हमारे समाज का निर्मम हाल बतलाते हैं-- 'मैंने प्रेम किया/ इसी से भोगने पड़े/ मुझे इतने प्रतिशोध।'

यह देखकर आश्चर्य हो सकता है कि 'पूरे संसार को ढोनेवाली/ नगण्यता की विनम्र गर्वीली ताकत' की पहचान और प्रतिष्ठा करती हुई वीरेन डंगवाल की कविता अपने कलेवर में इतने अधिक प्राणियों और वस्तुओं को, उनके विशाल धड़कते हुए अस्तित्व को समेटती चलती रही। हिन्दी कविता में यह एक दुर्लभ घटना है जब कोई कवि अपने से इतना अधिक बाहर रहकर, इतना अधिक बाह्यान्तर से जुड़कर सार्थक सृजन कर पाया है। कविता से बाहर भी वीरेन के दोस्तों और प्रशंसकों की दुनिया इतनी बड़ी थी जितनी शायद किसी दूसरे समकालीन कवि की नहीं रही होगी। उनके निधन पर असद जैदी ने मीर तकी 'मीर' की एक रुबाई का हवाला दिया था जिसमें किसी ऐसे व्यक्ति से मिलने की ख्वाहिश जाहिर की गयी है जो सचमुच मनुष्य हो, जिसे अपने हुनर पर अहंकार न हो, जो अगर कुछ बोले तो एक दुनिया सुनने के लिए एकत्र हो जाये और जब वह खामोश हो तो लगे कि एक दुनिया खामोश हो गयी है। वीरेन की शिख्सयत ऐसी ही थी, जिसके खामोश हो जाने से लोगों और कविताओं की विस्तृत दुनिया में जो उदास खामोशी व्याप्त हुई थी, वह अब तक महसूस होती रहती है।

अमरीकी चौधराहट के खिलाफ जी-7 में विक्षोभ

--विक्रम प्रताप

जी-7 देशों का 44वाँ सम्मेलन 8-9 जून 2018 को कनाडा के ला मेलबेई में सम्पन्न हुआ। जी-7 के बाकी देशों के साथ अमरीका के मतभेद इस सम्मेलन में सतह पर आ गये। इतना ही नहीं सम्मेलन में अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प के गैर-जिम्मेदाराना व्यवहार ने अमरीका के पारम्परिक सहयोगियों से उसकी दूरी को और बढ़ा दिया। इससे ठीक पहले ट्रम्प ने अमरीका के सबसे नजदीकी सहयोगी देशों के स्टील और एल्युमीनियम पर तटकर लगाने का फैसला किया था। जिसको लेकर बैठक में अमरीका और उसके सहयोगी देशों के बीच तनाव बढ़ गया और इसके चलते साम्राज्यवादी खेमें में दरार पड़ती नजर आयी।

जी-7 की बैठक कई मुद्दों को हल करने में असफल रही। पर्यावरण की समस्या, ईरान से सम्बन्ध, इजराइल-फिलिस्तीन टकराव और रूस को फिर से इस समूह का सदस्य बनाये जाने जैसे मसलों पर कोई निर्णय नहीं हो सका। इन मामलों को सुलझाने को लेकर ट्रम्प का रवैया बेहद अप्रत्याशित था, वे एक राष्ट्रपति के बजाय गली के लठैत जैसा व्यवहार करते नजर आये। उन्होंने अपने सहयोगियों को डराया-धमकाया और जी-7 की मीटिंग को बीच में छोड़कर चले गये। आइये इन विवादास्पद मुद्दों की एक-एक कर पड़ताल करते हैं।

हालाँकि 25 जुलाई 2018 को अमरीकी राष्ट्रपति ट्रम्प और यूरोपीय संघ के अधिकारियों के बीच एक समझौता हुआ। दोनों पारम्परिक सहयोगियों ने एक-दूसरे के खिलाफ व्यापार युद्ध से कदम पीछे खींच लिया। दोनों ने तटकर, सीमा-बाधा और सब्सिडी को "शून्य" कर देने का समझौता किया। यूरोपीय संघ ने भी सोयाबीन, प्राकृतिक गैस सहित अरबों डॉलर का अमरीकी निर्यात करने की इच्छा जाहिर की और वादा किया कि वह अन्तरराष्ट्रीय व्यापार नियमों में सुधार के लिए काम करेगा। इसे अमरीका और यूरोपीय संघ के रिश्ते में नया अध्याय माना जा रहा है।

ट्रम्प काफी पहले से ही शिकायत करते रहे हैं कि जर्मनी के कार निर्माताओं ने उनका शोषण किया है। इसलिए उन्होंने धमकी भी दी थी कि वे कार के आयात पर तटकर लगायेंगे, ताकि अमरीकी बाजार में जर्मनी के कारों की आवक घटायी जा सके और अमरीका अपना व्यापार घाटा कम कर सके। बदले में यूरोपीय संघ ने अमरीकी मालों पर 20 अरब डॉलर का तटकर लगाना तय किया था। यूरोपीय संघ ने पलटकर जब अमरीकी सामानों पर तटकर लगाया तो अमरीका ने अपने किसानों को 12 अरब डॉलर की सब्सिडी का वादा कर दिया। लेकिन 25 जुलाई के समझौते के बाद यूरोपीय संघ ने अपने कदम पीछे खींच लिये।

यह कहा जा सकता है कि व्यापार युद्ध का तात्कालिक दौर टल गया है। फिर भी दोनों महाशक्तियों के बीच आर्थिक दरार की वजहें खत्म नहीं हुई हैं। सोयाबीन और प्राकृतिक गैस का व्यापार विदेशी सम्बन्धों के मामले में अधिक मायने नहीं रखता है। दोनों आर्थिक ताकतों के बीच 1000 अरब डॉलर का द्विपक्षीय व्यापार होता है। अभी भी पेरिस पर्यावरण समझौते और ईरान के नाभिकीय समझौते पर मतभेद बने हुए हैं। इसके अलावा अमरीका व्यापार युद्ध में चीन से उलझा हुआ है। मैक्सिको के साथ विवाद जारी है। ट्रम्प का व्यवहार भी सन्देह पैदा करता है कि उसकी नीतियों पर जी-7 के बाकी देश विश्वास करें या नहीं।

कुछ दिनों से ट्रम्प के राष्ट्रवादी रुझानों को लेकर बढ़ा-चढ़ाकर बातें कही जा रही हैं। कहा गया कि ट्रम्प नव-उदारवाद के खिलाफ हैं। ऐसा कहने के पीछे एक कारण यह भी है कि वह हमेशा नव-उदारवाद के खिलाफ बातें करते नजर आते हैं। लेकिन क्या नव-उदारवाद से फायदा उठाने वाला अमरीकी सत्ताधारी वर्ग ट्रम्प को मनमानी करने देगा? यह गौर करने वाली बात है कि पिछले 28 सालों से नव-उदारवाद से सबसे ज्यादा फायदा उठा रहा वित्तीय सरमायदार अपने हितों को भुला नहीं सकता।

ट्रम्प का राष्ट्रवाद कहाँ से उपजा है? नव-उदारवाद के चलते जी-7 के देशों के पूँजीपतियों को गरीब देशों में पूँजी निवेश करके अकूत मुनाफा कमाने का मौका मिला। लेकिन इसी के साथ अमरीकी अर्थव्यवस्था का रुझान सट्टेबाजी और कर्जखोरी की ओर बढ़ता चला गया। इससे भी जी-7 के देशों के पूँजीपतियों ने अकूत मुनाफा कमाया। लेकिन मुनाफे का हर डॉलर इन देशों की जनता के भविष्य को अंधकार में ले जाने वाला साबित हुआ।

धीरे-धीरे जनता बेरोजगारी और कर्ज के जाल में फँसती चली गयी। जनता में इस व्यवस्था को लेकर गुस्सा बढ़ गया। अमरीका के ओकुपाई वाल स्ट्रीट आन्दोलन के देशव्यापी विस्तार ने इस गुस्से को बाहर आने का मौका दिया। दरअसल, ट्रम्प जनता के इसी गुस्से को भुना रहे हैं। वह अमरीकी जनता को गुमराह करते रहे हैं। वह कहते हैं कि जर्मनी, यूरोप, चीन, भारत आदि देश विश्व व्यापार के चलते मलाई खा रहे हैं और हम पीछे रह गये हैं।

बढ़ते राष्ट्रवाद का दूसरा कारण यह भी है कि 2008 की अमरीकी मन्दी के बाद से अमरीका के ऊपर कर्ज बढ़ता गया है। इस कर्ज को बढ़ाने में इराक, अफगानिस्तान, लीबिया और सीरिया में हुए युद्ध खर्च का भी बड़ा योगदान है। ऊपरी तौर पर यही लगता है कि ट्रम्प इन सब पर रोक लगाना चाहते हैं। इसके साथ ही अमरीका में पूँजीपतियों का एक ऐसा धड़ा ट्रम्प का समर्थक है जिसका हित नव-उदारवाद के खिलाफ है। जैसे-- पेरिस पर्यावरण सम्मेलन से पीछे हटने का कारण ट्रम्प द्वारा अपने देश के खनिज उत्पादकों के हितों की रक्षा करना है जो खनन के दौरान अंधाधुंध प्रदूषण फैलाते हैं। स्टील और एल्युमिनियम पर तटकर लगाने का फैसला अमरीका के स्टील और एल्युमिनियम उत्पादकों के हितों को ध्यान में रखकर लिया गया। लेकिन ऐसे कदम जहाँ एक ओर नव-उदारवादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ लगते हैं, वहीं ये कदम अमरीका के नव-उदारवादी वित्तपतियों के हितों पर सीधा हमला हैं। इसीलिए ऐसे कदमों को कामयाबी कैसे मिल सकती है?

कुछ मामलों में नव-उदारवाद के खिलाफ जाने से अमरीका के वित्तपति ट्रम्प से खासे नाराज हो गये। नव-उदारवाद के साथ खड़े अमरीकी मीडिया ने ट्रम्प की छवि एक गैर-जिम्मेदार नेता के रूप में प्रसारित की। अमरीका का सैन्य धड़ा, जो हथियारों के व्यापार और कमजोर देशों में युद्ध भड़काकर मुनाफा कमाता है, उसने नाना प्रकार से ट्रम्प के ऊपर ऐसा दबाव बनाया, जिससे ट्रम्प विदेशी सम्बन्धों के मामले में निर्णायक रूप से हथियारों पर ही भरोसा करें। इस तरह ठोंक-पीटकर ट्रम्प को रास्ते पर लाने का काम चल रहा है।

1990 में रूस टूटकर कमजोर देश बन गया था जिसका फायदा उठाकर अमरीका ने दुनिया की एक छत्र चौधराहट हासिल कर ली थी और दुनिया पर अन्यायपूर्ण नव-उदारवादी मॉडल थोप दिया था जो वैश्वीकरण के लुभावने नारे के पीछे लूट पर आधारित नग्न-निर्मम साम्राज्यवाद ही था। लेकिन कुछ साल बाद रूस फिर से उठ खड़ा हुआ। नतीजतन, 1997 में रूस को साम्राज्यवादी समूह के जी-7 देशों में शामिल करके जी-8 बना दिया गया। पुतिन के नेतृत्व में रूस और अधिक मजबूत देश बनकर उभरा। जैसे-जैसे रूस की अर्थव्यवस्था पटरी पर आती गयी और उसका नाटो देशों के साथ टकराव बढ़ता गया, जी-8 में रूस का रह पाना अधिकाधिक मुश्किल होता गया। अन्त में क्रीमिया और यूक्रेन मामले में रूस की भूमिका के मद्देनजर उसे मार्च 2014 में जी-8 से निकाल दिया गया। इसके बाद 2017 में रूस ने स्थायी तौर पर खुद को जी-8 से अलग कर लिया।

ट्रम्प ने रूस को जी-7 में फिर से शामिल करने का मुद्दा उठाकर मेलबेई के सम्मेलन में कलह को बढ़ावा दिया। आजकल रूस के साथ अमरीका सहित पश्चिम के बाकी साम्राज्यवादी देशों का सम्बन्ध निचले स्तर पर है। यूक्रेन पर हमले के चलते साम्राज्यवादियों के बीच रूस की छवि बहुत खराब हो गयी है। पुतिन के नेतृत्व में रूस ने हमेशा नाटो और अमरीका को परेशान किया है। मौजूदा परिस्थितियों में रूस पश्चिम के साम्राज्यवादी चौखटे में फिट नहीं बैठता। अमरीकी चुनाव में ट्रम्प के ऊपर यह आरोप लगा था कि रूस ने गलत तरीके से चुनाव जीतने में ट्रम्प की मदद की थी। हालाँकि ऐसी धारणा विवादों से परे नहीं है। फिर भी ट्रम्प सन्देह और आरोप-प्रत्यारोप के इस माहौल में रूस को जी-7 में शामिल करने की वकालत करते हैं। ऐसे में ट्रम्प की विश्वसनीयता पर सवाल उठने लाजमी हैं।

जी-7 में विवाद का विषय यह भी था कि ट्रम्प ने अमरीका के सहयोगी जापान और दक्षिण कोरिया की सहमति के बिना उत्तरी कोरिया के साथ ऐसे समझौते किये जो इन दोनों देशों के हितों को प्रभावित करने वाले थे। जैसे ट्रम्प ने अमरीका और दक्षिण कोरिया के संयुक्त सैन्य अभ्यास के अन्त की घोषणा कर दी जिसने उत्तरी कोरिया को कूटनीतिक बढ़त दिला दी और जिसका फायदा उठाकर उत्तरी कोरिया ने दुनिया भर में अपने पक्ष में प्रचार किया। अमरीका जैसे बड़े साम्राज्यवादी देश के राष्ट्रपति के तौर पर यह ट्रम्प की अदूरदर्शिता ही थी, जिसने छोटे और प्रतिबन्धों से घिरे उत्तरी कोरिया के राष्ट्रपति किम के आगे ट्रम्प को बौना साबित कर दिया। कूटनीति के मामले में किम ने बाजी मार ली। इससे साम्राज्यवादियों के सरगना के तौर पर अमरीका की छवि थोड़ी धूमिल हो गयी है। खबरे यह भी आ रही हैं कि उत्तरी कोरिया नाभिकीय हथियार के खात्में के अपने वादे से पीछे हट रहा है। यह भी ट्रम्प के लिए घातक साबित हो रहा है क्योंकि सिंगापुर में किम से मुलाकात के बाद ट्रम्प ने किम की तारीफ की थी और उन्हें पूरी उम्मीद थी कि उत्तरी कोरिया अपने नाभिकीय हथियारों को खत्म कर देगा। इसी के दम पर ट्रम्प ने वादा किया था कि अमरीका उस इलाके से अपने सभी सैनिक अड्डे हटा लेगा।

ट्रम्प ट्रांसएटलांटिक गठबन्धन को मजबूत बनाने के मामले में बहुत गम्भीर नहीं हैं। यह गठबन्धन एटलांटिक महासागर के दोनों ओर के देशों को आपस में जोड़ता है। शुरू में यह ट्रांसएटलांटिक चार्टर के रूप में सामने आया था। इसे दूसरे विश्वयुद्ध

के बाद बनाया गया था। दूसरे विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ एक बड़ी ताकत के रूप में विश्व पटल पर उभरकर आया। वह अमरीकी वर्चस्व के लिए सीधी चुनौती था। ट्रांसएटलांटिक गठबन्धन को अंजाम देकर अमरीकी खेमे ने खुद को मजबूत बना लिया। फिर भी अमरीका और सोवियत संघ के बीच शीत युद्ध का खतरा कभी टला नहीं। 1990 में सोवियत संघ के बिखरने के बाद एक ध्रुवीय विश्व में इस गठबन्धन के बने रहने का औचित्य खत्म हो गया। लेकिन छोटे देशों पर युद्ध थोपने का मामला हो या विश्व पर अमरीकी वर्चस्व को लादने का, यह गठबन्धन अमरीकी साम्राज्यवाद के लिए काफी फायदेमन्द रहा है। डोनाल्ड ट्रम्प जिस नयी विश्व व्यवस्था के पैरोकार हैं, उन्हें लगता है कि यह गठबन्धन उसमें बाधक है। ईरान के साथ नाभिकीय समझौते से पीछे हटने में ट्रम्प को इस गठबन्धन के चलते कठिनाई हुई। लिहाजा वे इसे खत्म कर देना चाहते हैं। आज इस गठबन्धन में अमरीका, कनाडा और यूरोप के देश शामिल हैं। इस गठबन्धन का एक पहलू सैन्य संगठन नाटो भी है, जिसके अनुसार अगर इसमें शामिल किसी भी देश पर हमला किया जाता है तो उसे इसमें शामिल सभी देशों पर हमला माना जायेगा और इस हमले से निपटने में इसके सभी सदस्य देश उठ खड़े होंगे।

अमरीका और यूरोपीय संघ के बीच पैदा हुए विवाद को और गहराई से समझने के लिए उनके इतिहास पर नजर डालनी होगी। कभी दोनों आर्थिक शक्तियाँ उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी थीं। हालाँकि अमरीका नव-उपनिवेश का पैरोकार था, जिसने कठपुतली सरकारों की स्थापना के जरिये देशों को गुलाम बनाया था, जबकि यूरोप के उपनिवेशवादियों ने अपनी सैन्य ताकत और कूटनीति के बल पर भारत जैसे देशों को गुलाम बनाया था। एक अन्तर और भी है, जहाँ एक ओर अमरीका एक देश है और एक ही शासन-संविधान से संचालित होता है, वहीं यूरोपीय संघ कई देशों का समूह है। इसमें शामिल देशों के आपसी हित टकराते भी हैं। हालाँकि एक मामले को लेकर इन देशों में एकता भी है, वह है मध्यपूर्व एशिया को लेकर इनकी रणनीति। यूरोप एशिया के मध्यपूर्वी देशों के बिल्कुल नजदीक है। अमरीका ने दूर से ही ईरान, इराक, सीरिया, अफगानिस्तान आदि मध्यपूर्व के देशों पर हमले किये हैं। इस इलाके में कोई भी उथल-पुथल सीधे यूरोप को प्रभावित करती है। जैसे, सीरियाई युद्ध में पैदा हुए शरणार्थी संकट ने यूरोप के देशों को चिन्ता में डाल दिया था। भारी संख्या में सीरिया की जनता अपनी जमीन से उजड़कर स्पेन, फ्रांस, जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में विस्थापित हुई, जिससे इन देशों में सामाजिक-राजनीतिक संकट पैदा हो गया। इसी के चलते कुछ हद तक यूरोप इस इलाके के विवाद का शान्तिपूर्ण समाधान चाहता है। 9/11 के हमले के बाद अमरीका ने मध्यपूर्व एशिया को सैन्य हस्तक्षेप से तबाह कर दिया। अमरीका ने अफगानिस्तान, इराक, लीबिया, सीरिया आदि देशों में पहले आतंकवाद को और फिर सैनिक हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया। फिर भी अमरीका इस इलाके में पूरी तरह अपना वर्चस्व कायम करने में नाकाम रहा। इन देशों की जनता ने खून बहाकर अपनी आजादी की हिफाजत की है। अमरीका लज्जित और पराजित हुआ है।

इन्हीं परिस्थितियों में ओबामा प्रशासन ने यूरोपीय संघ के दबाव में ईरान से नाभिकीय समझौता किया था। ज्वाइंट काम्प्रेहैंसिव प्लान ऑफ एक्शन के नाम से हुए समझौते में जहाँ एक ओर ईरान को बातचीत की मेज पर लाया गया और ईरान के नाभिकीय कार्यक्रम को रोकने के लिए दबाव बनाया गया, वहीं दूसरी ओर अमरीका और यूरोपीय संघ की कम्पनियों को ईरान में व्यापार जमाने का मौका मिला। मन्दी से पीड़ित यूरोप के लिए यह किसी संजीवनी से कम नहीं था। इस समझौते का सबसे अधिक फायदा यूरोप की कम्पनियों ने ही उठाया। इसलिए जब ट्रम्प ने इस समझौते को रद्द करने की पेशकश की तो उसका यूरोपीय संघ से विवाद तीखा हो उठा।

इजराइल और फिलिस्तीन का मामला भी जी-7 में विवाद का एक विषय था। पिछले कुछ सालों से इजराइल-फिलिस्तीन संघर्ष दुनिया की नजरों में है। अमरीका की शह पर इजराइल ने लगातार फिलिस्तीनी जनता के ऊपर तोप के गोले बरसाये हैं। सैंकड़ों निर्दोष बूढ़ों, बच्चों, महिलाओं का कत्ल किया है। दुनिया की अमनपसन्द जनता फिलिस्तीन के साथ खड़ी है। जनता के दबाव में अमरीका ने दोनों देशों के बीच चल रहे संघर्ष को रोकने के लिए "शताब्दी का समझौता" का वादा किया था। लेकिन अमरीका इस मामले में कितना संजीदा है, इसका पता इसी बात से लग गया, जब ट्रम्प ने अमरीकी दूतावास को येरूसलेम में स्थानान्तरित करने का फैसला किया। फिलिस्तीन की सरकार ने अमरीका के इस कदम की कठोर निन्दा की और कहा कि अमरीका समझौते के मामले में ईमानदार नहीं है। फिलीस्तीन के राष्ट्रपति महमूद अब्बास ने अमरीका के इस कदम को "शताब्दी का थप्पड़" करार दिया। 2017 के दिसम्बर में जब ट्रम्प ने येरूसलेम को इजराइल की राजधानी बनाने का फरमान सुनाया, तब फिलिस्तीन की सरकार ने शान्ति समझौते की बातचीत में भाग लेने से इनकार कर दिया। इजराइल और फिलीस्तीन के बीच संघर्ष में येरूसलेम भी एक बड़ा मुद्दा है। दोनों देश इस इलाके पर अपना दावा ठोंकते रहे हैं। इसलिए ट्रम्प का फैसला शान्तिपूर्ण बातचीत में बाधक बन गया। इस मामले को लेकर भी यूरोपीय संघ ट्रम्प से खफा है क्योंकि संघ इस समस्या का भी शान्तिपूर्ण समाधान चाहता है।

26 जुलाई 2018 को येरूसलेम पोस्ट की खबर के मुताबिक संयुक्त राष्ट्र आर्थिक और सामाजिक परिषद ने इजराइल के एक प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और इस इलाके में लड़ाई के लिए हमास को "दोषी नहीं" ठहराया गया। इजराइल ने संयुक्त राष्ट्र में एक लाइन का प्रस्ताव पास करवाने की कोशिश की, जिसमें माँग की गयी थी कि "हमास द्वारा गाजा में पकड़े गये इजराइल के नागरिकों और सैनिकों को तुरन्त रिहा कर दिया जाये।" प्रस्ताव के पक्ष में अमरीका, कनाडा, कोलम्बिया, मैक्सिको और उरूग्वे ने वोट दिया। जबकि इसके विरोध में 18 देशों ने वोट दिया। यूरोपीय संघ के देशों सहित 23 देशों ने वोट नहीं दिया। यह यूरोपीय संघ के ढीले-ढाले रवैये की ओर इशारा करता है। इस मुद्दे पर इजराइल की जबरदस्त हार ने यह साबित कर दिया कि आज भी अधिकांश देश फिलिस्तीनी जनता के साथ खड़े हैं।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले, जिस तरह इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि देश अपनी सैन्य ताकत के दम पर गरीब देशों को लूटते थे। अब यही काम अमरीका के नेतृत्व में साम्राज्यवादी समूह के देश पूँजी के बल पर करते हैं। विश्व व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे जी-7 के साम्राज्यवादी देश आपसी सहमति से दुनिया की जनता को लूटते हैं। लेकिन अब उनकी सहमति में दरार नजर आने लगी है। उनके बीच अन्तरविरोध, स्वार्थों का टकराव और मनमुटाव शुरू हो गया है। इसकी जड़ में वह चिरस्थायी वैश्विक मन्दी है जो 2008 में चरम पर पहुँच गयी। वैश्विक मन्दी ने दुनिया भर के बाजारों को नुकसान पहुँचाया है। शेयर बाजार की सट्टेबाजी को झटका दिया है। मन्दी पूर्व सट्टा बाजार की तुलना में आज सेंसेक्स की उछाल बहुत कम रह गयी है। बारी-बारी से दुनिया के सभी देशों में मन्दी ने कहर ढाया है। अर्थव्यवस्थाओं को तबाह किया है और घरेलू राजनीतिक समीकरणों में भारी फेरबदल किया है। यहाँ तक कि संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था के अन्तिम उद्धार के रूप में कई देशों में फासीवादियों को सत्ता की कुर्सी तक पहुँचाया है। इसने दो दशक से जारी नव-उदारवादी मॉडल पर कई बड़े सवाल खड़े किये हैं।

दरअसल नव-उदारवादी मॉडल की यह अन्तर्निहित खामी है कि वह बहुत बड़ी आबादी को अपने विकास के मॉडल से बाहर रखता है। साम्राज्यवादी पूँजीपतियों ने अपने देश की जनता का भरपूर शोषण किया है। इसके साथ-साथ उन्होंने गरीब और विकासशील देशों के शासकों और पूँजीपतियों के साथ साँठ-गाँठ करके वहाँ की जनता का भी शोषण किया है। इस लूटपाट और शोषण ने जनता की क्रयशक्ति में कमी करके बाजार को काफी सिकोड़ दिया है। नतीजा यह हुआ कि अब फिर से बाजार की मारा-मारी शुरू हो गयी है। तात्कालिक तौर पर जी-7 के देशों ने आपसी मतभेद के कुछ मुद्दों पर एक सहमति तो बना ली है लेकिन कई बड़े मुद्दों पर उनके बीच टकराव जारी है। अगर दुनिया की शोषित-पीड़ित जनता साम्राज्यवादियों के खिलाफ उठकर खड़ी हो जाये, तो इनकी लूट अधिक दिन तक कायम नहीं रह पायेगी। लूट पर टिकी उनकी अर्थव्यवस्था की चूलें हिल जायेंगी और उनके बीच कलह-विग्रह इतना बढ़ जायेगा कि उनकी एकता टूट जायेगी। दुनिया एक नये युग के मुहाने पर खड़ी है। दुनिया की संघर्षशील जनता ही तय करेगी कि धरती का भविष्य कैसा होगा?

गुरु-चेला संवाद

गुरु : चेला, हिन्दू-मुसलमान एक साथ नहीं रह सकते।
चेला : क्यों गुरुदेव
गुरु : दोनों में बड़ा अन्तर है
चेला : क्या अन्तर है
गुरु : उनकी भाषा अलग है...हमारी अलग है।
चेला : क्या हिन्दी, कश्मीरी, सिंधी, गुजराती, मराठी, मलयालम, तमिल, तेलुगु, उड़िया, बंगाली आदि भाषाएँ मुसलमान नहीं बोलते...वे सिर्फ उर्दू बोलते हैं
गुरु : नहीं...नहीं, भाषा का अन्तर नहीं है...धर्म का अन्तर है।
चेला : मतलब दो अलग-अलग धर्मों के मानने वाले एक देश में नहीं रह सकते
गुरु : हाँ...भारतवर्ष केवल हिन्दुओं का देश है।
चेला : तब तो सिखों, ईसाइयों, जैनियों, बौद्धों, पारसियों, यहूदियों को इस देश से निकाल देना चाहिए।
गुरु : हाँ, निकाल देना चाहिए।
चेला : तब इस देश में कौन बचेगा?
गुरु : केवल हिन्दू बचेंगे...और प्रेम से रहते हैं।
चेला : उसी तरह जैसे पाकिस्तान में सिर्फ मुसलमान बचे हैं और प्रेम से रहते हैं।

--असगर वजाहत

अमरीका-ईरान समझौते का शिशु-वध

--सुनील कुमार

8 मई को अमरीकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने ईरान के साथ 2015 में हुए परमाणु समझौते को तोड़ने की एकतरफा घोषणा कर दी। ट्रम्प का कहना था, "मेरे लिए यह स्पष्ट है कि हम इस समझौते के साथ रहकर ईरान को परमाणु बम बनाने से नहीं रोक सकते हैं। ईरान समझौता मूल रूप से दोषपूर्ण है। इसलिए मैं आज ईरान परमाणु समझौते से अमरीका के हटने की घोषणा करता हूँ"। घोषणा के कुछ ही देर बाद ईरान पर नये प्रतिबन्ध लगा दिये गये।

यह समझौता ओबामा सरकार के दौरान ईरान और संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद के पाँच स्थाई सदस्यों (अमरीका, ब्रिटेन, रूस, चीन और फ्रांस) और जर्मनी के बीच हुआ था। जेनेवा में हुए इस समझौते के अनुसार ईरान ने वादा किया था कि वह लगभग 15 टन संवर्धित यूरेनियम के भंडार को 98 फीसदी कम करके तीन सौ किलोग्राम तक रखेगा। समझौते के समय ईरान के पास उन्नीस हजार सेंट्रीफ्यूज थे जिनके माध्यम से यूरेनियम के कणों को अलग किया जाता था। इनकी संख्या 5,060 तक सीमित करने को कहा गया था। यह भी तय हुआ था कि वह यूरेनियम को 3.67 फीसदी से ऊपर समृद्ध नहीं करेगा। समझौते में यह भी शामिल था कि रूस ईरान को लगभग 140 टन प्राकृतिक यूरेनियम येलो-केक के रूप में देगा। जिसका इस्तेमाल केवल बिजलीघरों के लिए परमाणु छड़ बनाने के लिए किया जाएगा। साथ ही, अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी (आईएईए) को 25 साल तक इस बात की जाँच करने की स्वतंत्रता होगी कि ईरान शर्तों का पालन कर रहा है या नहीं। इन शर्तों के बदले में ये सभी देश ईरान पर लगाए गये आर्थिक प्रतिबन्ध हटाने पर सहमत हुए थे।

ट्रम्प का आरोप है कि ईरान ने छिपकर अपने परमाणु कार्यक्रम को जारी रखा है। उसका कहना है कि ईरान अभी भी परमाणु सामग्री का इस्तेमाल हथियार बनाने के लिए कर रहा है। लेकिन अन्तराष्ट्रीय परमाणु ऊर्जा एजेंसी आईएईए ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट किया है कि ईरान का परमाणु कार्यक्रम समझौते की शर्तों के अनुसार ही चल रहा है। आईएईए की रिपोर्ट के अनुसार ईरान ने समझौते के अनुसार यूरेनियम परमाणु भण्डार की तय की गयी न्यूनतम संवर्धन सीमा 3.67 फीसदी को पार नहीं किया है। आईएईए की रिपोर्ट के तथ्य बताते हैं कि ट्रम्प के आरोप पूरी तरह झूठे और बेबुनियाद हैं।

इस झूठ में अमरीका के इशारे पर नाचने वाला इजरायल भी बेशर्मी से शामिल है। इजरायल ने कुछ 'गोपनीय परमाणु फाइलों' का हवाला देते हुए कहा है कि ईरान 2003 के पहले तक परमाणु बम पर काम कर रहा था और उसने वह तकनीक छिपा ली है। अमरीकी विदेश मन्त्री माइक पोम्पिओ का कहना है कि बेंजामिन नेतन्याहू द्वारा उपलब्ध कराये गये दस्तावेज पूरी तरह सही हैं। जबकि इस मामले में ऐसा कुछ भी नहीं है। अमरीकी कांग्रेस में आते ही पोंपियो ने मीडिया से कहा था कि हमारी एयर फोर्स की केवल दो हजार उड़ाने ही ईरान के परमाणु कार्यक्रम को नष्ट कर देंगी। हाल ही में ट्रम्प ने जॉन बोल्टन को राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार के तौर पर नियुक्त किया है। ट्रम्प की सरकार बनते ही बोल्टन जॉइंट कॉम्प्रेहेंसिव प्लान ऑफ एक्शन (जेसीपीओए) के लिए सहमति बनाने की कोशिश में जी-जान से लग गया था। यह वही शख्स है जिसने जॉर्ज बुश के शासन के दौरान ईरान के खिलाफ युद्ध छेड़ने की पुरजोर वकालत की थी। पोम्पिओ के इस कथन और बोल्टन की राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार के रूप में नियुक्ति से जाहिर होता है कि अमरीका ईरान के लिए क्या मंशा रखता है।

ट्रम्प के इस फैसले से उसके पश्चिमी सहयोगी देश स्तब्ध हैं। फ्रांस के राष्ट्रपति ने ट्रम्प के इस फैसले पर कहा कि अमरीका के इस निर्णय से रूस, जर्मनी और ब्रिटेन निराश हैं। इस फैसले के तुरन्त बाद ही फ्रांस के राष्ट्रपति इमैनुअल मैक्रों और जर्मनी की चांसलर एंजेला मर्केल ट्रम्प को मनाने अमरीका पहुँच गयी थी। इन देशों के परेशान होने का मतलब यह नहीं है कि वे ईरान को समस्या से बाहर निकलना चाहते हैं। अभी कुछ दिनों पहले ही फ्रांस और ब्रिटेन ने अमरीका के साथ मिलकर सीरिया पर बम बरसाये। जबकि ईरान ने सीरिया के राष्ट्रपति बसर अल-असद का खुलकर समर्थन किया। असल में ईरान के साथ परमाणु समझौता होने के बाद प्रतिबन्धों को हटा लिया गया था। इसके चलते फ्रांस और यूरोप के अन्य देशों की गैस, तेल और ऑटोमोबाइल क्षेत्र की कम्पनियों ने वहाँ भारी मात्रा में पूँजी निवेश किया है। इसी वजह से फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन नहीं चाहते कि अमरीका इस करार से अलग हो।

अमरीका ने दुनिया भर के देशों को धमकाते हुए कहा है कि चार नवम्बर से पहले सभी देशों को ईरान से तेल खरीदना बन्द करना होगा। अगर वे ऐसा नहीं करते तो उन्हें अमरीका के कठोर आर्थिक प्रतिबन्धों का सामना करना पड़ेगा। परमाणु समझौते से पहले अमरीका के दबाव के चलते भारत को ईरान से तेल और गैस की खरीद में भारी कटौती करनी पड़ी थी। समझौते के बाद

भारत को ईरान से सस्ते दामों में तेल मिल जाता था। क्योंकि ईरान के ऊपर थोपे गये आर्थिक प्रतिबन्धों के हट जाने से भारत आसानी से जितना चाहे उतना तेल और गैस ईरान से खरीद सकता था। भारत ने सऊदी अरब से तेल खरीद की मात्रा को कम कर दिया था और वह ईरान से तेल खरीदने को प्राथमिकता देने लगा। वित्तीय वर्ष 2017-2018 के तेल खरीद के आँकड़ों से स्पष्ट है कि भारत ने तेल आयात के मामले में सऊदी अरब की कम्पनियों को प्राथमिकता न देकर ईरान को दी। लेकिन ट्रम्प द्वारा फिर से प्रतिबन्ध लगाने की घोषणा करते ही, हमारे शासकों ने भी ईरान से तेल खरीद में 30 फीसदी की कटौती की घोषणा कर दी। अमरीका ऐसा कभी नहीं चाहेगा कि सऊदी अरब और इराक में स्थित उसकी तेल कम्पनियों का मुनाफा कम हो।

पश्चिमी एशिया के ज्यादातर देश ओपेक में शामिल हैं। तेल उत्पादन की क्षमता में सऊदी अरब और इराक के बाद ईरान दुनिया भर में तीसरे नम्बर पर आता है। 1979 में ईरान की क्रान्ति से पहले उसके तेल के करीब आधे हिस्से पर अमरीका और ब्रिटेन की कम्पनियों के एक कंसोर्टियम का कब्जा था। अयातुल्लाह खुमैनी ने क्रान्ति के जरिये शाह और अमरीका के गठजोड़ का अन्त कर दिया था। अमरीका और ईरान के बीच दुश्मनी यहीं से शुरू हुई है। तब से आज तक अमरीका लगातार ईरान पर तरह-तरह से प्रतिबन्ध लगाता आया है। जिस तरह साऊदी अरब और इराक के तेल पर ज्यादातर अमरीकी कम्पनियों का दबदबा है उसी तरह अमरीका की चाहत है कि ईरान के तेल पर उसकी कम्पनियों का कब्जा हो। उसका मंसूबा है कि पूरी दुनिया के तेल पर उसी का एकाधिकार हो। परमाणु समझौते से बाहर आने के पीछे अमरीका का यही मंसूबा है। जिसे अपनी चौधराहट के दम पर पूरा करना चाहता है।

मीडिया का असली चेहरा

--अमित राणा

किसी भी लोकतांत्रिक देश के तीन मुख्य आधार स्तम्भ माने गये हैं-- विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, इसके बाद चौथा स्तम्भ माना जाता है-- मीडिया, जो बाकी के स्तम्भों पर नजर रखता है। इसलिए इसे लोकतंत्र का प्रथम प्रहरी भी कहा जाता है। मीडिया किसी भी राष्ट्र के निर्माण में जनता को सक्रिय भागीदार बनाने में अहम भूमिका निभा सकता है। यह समाज कल्याण के मुद्दों पर जनता को जागरूक कर सकता है। मीडिया सभ्यताओं और संस्कृतियों के बीच मेल-जोल बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। लोकतांत्रिक मूल्यों की रक्षा में भी बढ़-चढ़ के हिस्सा ले सकता है। लेकिन सवाल यह है कि क्या भारत में मुख्य धारा का मीडिया अपनी जिम्मेदारी निभाता है? अगर नहीं निभाता है तो क्यों?

भारत में मीडिया का जो स्वरूप आज है, वह किसी भी स्वस्थ लोकतांत्रिक देश के लिए चिन्ता का विषय है। अगर हम मीडिया के मौजूदा हालात पर सभी पहलुओं से विचार करें तो पता चलता है कि दरअसल यह मीडिया का नहीं व्यवस्था का संकट है। नवउदारवादी नीतियों के जरिये देश की जनता को जिस बाजार के हवाले किया गया, वह हर चीज का इस्तेमाल अपने मुनाफे के लिए करता है। मुनाफा ही बाजार का दीन-धर्म और ईश्वर-अल्ला है। इस मुनाफाखोर व्यवस्था के चलते आज मुख्यधारा का मीडिया कॉरपोरेट घरानों के कब्जे में है। ऐसे में इससे सच्ची खबरों की उम्मीद करना बेमानी हो गया है। मुख्यधारा का मीडिया आज अपने मालिकों के निजी हितों के चलते इतिहास का काला अध्याय लिख रहा है, यह जनता की चेतना को कुन्द कर रहा है तथा लोगों को जातिवादी, साम्प्रदायिक और उपभोक्तावादी बना रहा है। ऐसे में हमें ठहरकर इसके इतिहास, वर्तमान और भविष्य पर विचार कर लेना चाहिए।

आजादी से बहुत पहले केवल अखबार और पत्रिकाएँ ही मीडिया का रूप थे। आजादी से कुछ समय पहले इसमें रेडियो भी जुड़ गया और वर्ष 1959 में टेलीविजन भी इसका अंग बन गया। इसके जुड़ते ही "मनोरंजन" मीडिया का मुख्य पहलू बनता गया। आजादी के समय एक मशहूर शायर ने कहा था, "खीचों न कमानों को, न तलवार निकालो, जब तोप मुकाबिल हो तो अखबार निकालो।" यही वह समय था जब अंग्रेजों की तोपों का सामना करते हुए बिखरी हुई भारतीय जनता की एकजुटता की जरूरत ने अखबार जैसे आधुनिक मीडिया को कारगर भूमिका में उतार दिया।

1780 में जेम्स अगस्टस हिक्की ने 'बांग्ला गजट' पत्र निकाला। इससे भारत में पत्रकारिता के रूप में मीडिया का जन्म हुआ। सच छापने के चलते उन्हें जेल की सजा भी भुगतनी पड़ी। उस दौर में सही तथ्यों और सूचनाओं का अभाव था और सुनी-सुनायी बात को लेकर जनता की राय बनती रहती थी, जिसकी वजह से उस दौर में एक ऐसे माध्यम की जरूरत थी जिससे लोगों में सही राय कायम हो और उनकी एकजुटता मजबूत हो। पत्रकारिता का जन्म इन्हीं बुनियादी उद्देश्यों के लिए हुआ था। जनता को एकजुट करना, चेतना बढ़ाना, शिक्षित करना, सामूहिकता बढ़ाना, भारत की साँझी राष्ट्रीय संस्कृति को आगे बढ़ाना,

संकीर्णता दूर करना, साम्प्रदायिकता खत्म करना, तार्किक वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देना और सही तथा जरूरी सूचनाएँ जनता तक पहुँचाना। उस दौर में पत्रकारिता को व्यवसाय नहीं माना जाता था। यह एक समाज सेवा थी और इसमें जनता के हित के अलावा कुछ और सोचना बेईमानी समझा जाता था। अंग्रेजों के दमन के चलते गिने-चुने लोग ही इस क्षेत्र में आने की हिम्मत कर पाते थे।

भारत की आजादी की लड़ाई में पत्रकारिता का बहुत बड़ा योगदान रहा है। पराड़कर, बाबा साहेब भीम राव अम्बेडकर, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू, भगत सिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी और कई दूसरे क्रान्तिकारियों ने अखबारों के माध्यम से आजादी की लड़ाई को जन-जन तक पहुँचाया। भगत सिंह ने अपने क्रान्तिकारी विचारों को किरती और प्रताप में अपने लेखों के जरिये जनता तक पहुँचाया और जनता को गुमराह करने वाले विचारों पर चोट की।

1907 में इलाहबाद के पत्रकार शान्ति नारायण भटनागर ने अपनी जमीन-जायदाद बेचकर 'स्वराज्य' अखबार निकाला और उसके माध्यम से अंग्रेजों का जबरदस्त विरोध किया। फलस्वरूप, अंग्रेजों ने उन्हें 3 साल के लिए जेल में डाल दिया। इसके बाद एक-एक करके अखबार के सम्पादक बदलते गये और गिरफ्तार होते गये। इस अखबार के आठ सम्पादकों को कालापानी भेज दिया गया। लेकिन जनता के प्रति इसकी निष्ठा और इसका हौसला कायम रहा। अमीर चन्द बम्बवाल ने विज्ञापन दिया, "सम्पादक चाहिए, वेतन-- दो सूखी रोटियाँ, गिलास भर पानी और हर सम्पादकीय लिखने पर 10 वर्ष की कालेपानी की सजा"। इसके बावजूद वहाँ सम्पादकों की कोई कमी नहीं हुई।

आजादी के बाद हालात तो बदल गये थे लेकिन अधिकांश जनता अशिक्षित और गरीब थी। ऐसे में लोकतांत्रिक मूल्य-मान्यताओं को स्थापित करने, जनता को शिक्षित करने, वैज्ञानिक सोच को बढ़ाने और देश-दुनिया के बीच सम्बन्ध बनाने का काम मीडिया के कन्धों पर आ पड़ा था। 1959 में टेलीविजन के प्रथम प्रसारण के साथ मीडिया अब उन्नत रूप ले रहा था। ध्वनि के साथ चलचित्र अब इसका अभिन्न अंग था। आगे चलकर इसने "मिले सुर मेरा तुम्हारा तो सुर बने हमारा" जैसे गीत प्रसारित किये। "पक्षियों का जाल लेकर उड़ जाना और शिकारी का मुहँ ताकते रह जाना" जैसे किस्से गढ़े। लोगों में वैज्ञानिक नजरिया पैदा करने के लिए 'भारत एक खोज' जैसा धारावाहिक चलाया। मालगुड़ी डेज, परिवार नियोजन के विज्ञापन, कल्याण योजनाओं से जुड़ी जानकारियाँ, खेती-किसानी से सम्बन्धित खबरें-सूचनाएँ प्रसारित कीं। धर्मनिरपेक्षता, तार्किकता और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया।

1990 तक मीडिया ने अपनी सीमाओं के बावजूद जनता की जरूरतों के अनुरूप, सापेक्षिक स्वतंत्रता के साथ, अपने दायित्व का निर्वाह किया। इसकी पैनी आलोचना दृष्टि ने जवाहरलाल नेहरू और इंदिरा गाँधी जैसे प्रधानमंत्रियों की भी आलोचना की। सरकारी दबाव के बीच जनता के हक में निरन्तर आवाज उठाता रहा।

जब आपातकाल लागू हुआ तो इसके विरोध में कई अखबारों ने कई दिन तक सम्पादकीय नहीं लिखे। सम्पादकीय का नियत स्थान काला घेरा करके खाली छोड़ दिया जाता था। इसी दौर में जेपी आन्दोलन, राष्ट्रभाषा आन्दोलन और हरित क्रान्ति जैसी कई राजनीतिक और सामाजिक गतिविधियों को आगे बढ़ाने में मीडिया ने प्रमुख भूमिका निभायी। यह मीडिया ही था जिसने इंदिरा गाँधी के नेतृत्व वाली सरकार को करारी शिकस्त देने में मदद की और कांग्रेस के विकल्प के रूप में विपक्षी पार्टियों के गठजोड़ से जनता पार्टी के गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। मीडिया ने ही कांग्रेस के विकल्प के तौर पर उभरी जनता पार्टी की सरकार को ढाई साल में बेनकाब भी कर दिया।

आज हम मीडिया के विभिन्न रूप देखते हैं-- प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, ई-मीडिया, सोशल मीडिया, डिजिटल मीडिया इत्यादि और तकनीक के विस्तार के साथ-साथ इसके रूपों का और भी विस्तार होता जा रहा है। आज हमारे देश में कुल 82,222 से ज्यादा समाचार पत्र-पत्रिकाँ निकलती हैं जो 123 से ज्यादा भाषाओं और बोलियों में प्रकाशित होती हैं। 150 से ज्यादा एफएम चैनल हैं जो 40 से अधिक शहरों से प्रसारित होते रहते हैं। 831 से अधिक टेलीविजन चैनल पंजीकृत हैं जो सुबह से रात तक कुछ न कुछ प्रसारित कर रहे हैं।

लेकिन दुःख की बात है कि आज मीडिया देश की तीन चौथाई वंचित और गरीब आबादी को पूरी तरह भूल गया है। वह टीवी स्क्रीन और अखबारों के पन्नों पर कामुकता उड़ेल रहा है। स्त्री देह को व्यापार बनाकर अंगवर्धक दवाएँ बेच रहा है। जनता को सनसनीखेज सूचनाओं का आदी बना रहा है। बाबाओं के गंडे-ताबीजों से लोगों में अंधविश्वास फैला रहा है। इसकी रगों में आज मैकडोनाल्ड, पेप्सी, कोक, रिबॉक, पिज्जाहट, कोलगेट, लिवायिस, पीएंडजी जैसी दैत्याकार कम्पनियों का मुनाफा रक्त बनकर दौड़ रहा है और इसकी आत्मा पूरी तरह पूँजी परस्त हो गयी है।

यहाँ हमें ठहरकर सोचने की जरूरत है कि मीडिया का यह पतन किस तरह हुआ? आजादी के बाद भारत के शासकों ने एक स्वतंत्र और आत्मनिर्भर विकास का रास्ता चुना था। 1990 तक संचार के माध्यमों पर सरकार का नियंत्रण रहता था और भारत स्वावलम्बी विकास की नीति पर चल रहा था। लेकिन नयी आर्थिक नीतियों ने भारत के स्वावलम्बी आर्थिक विकास को रौंदकर देश के गले में नयी आर्थिक गुलामी का पट्टा डाल दिया। अमरीका ने विश्व बैंक के जरिये भारत पर दबाव बनाया और भारत के कमजोर नेतृत्व ने देश का स्वाभिमान

विश्व बैंक के चरणों में रख दिया। देश के शासकों ने निजीकरण-उदारीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों के लिए देश के दरवाजे खोल दिये। अब वे उदार थे, पूँजीपतियों के लिए, अब हमारी सारी सम्पदा पूँजीपतियों के निजी हितों के लिए थी, अब हमारी अर्थव्यवस्था के दरवाजे खुले हुए थे, पूरे विश्व के लुटेरों के लिए। ऐसे में मीडिया का मजबूत रह पाना सम्भव नहीं था।

नयी आर्थिक नीतियों ने पूरी दुनिया के अर्थशास्त्र को बदल कर रख दिया। इसने माँग और आपूर्ति के सिद्धान्त को निष्प्रभावी कर दिया। तकनीक की सहायता से हुए बेतहाशा उत्पादन को खपाने की जरुरत थी पर कैसे? वह खप सकता था, उपभोक्तावाद से!

2002 में भारत में मीडिया क्षेत्र में विदेशी पूँजी निवेश की अनुमति दे दी गयी। मीडिया सत्तापक्ष और बाजार के आगे नतमस्तक हो गया। पूँजीपति वर्ग ने अखबार, रेडियो और टेलीविजन पर अपना वर्चस्व कायम कर लिया। वह जानता था कि मीडिया के जरिये लोगों के दिमाग पर प्रभाव डालकर उसे उपभोक्तावाद का गुलाम बनाया जा सकता है। अब मीडिया सरमायादारों का हुक्म बजाने वाला उसका चाकर बन गया है।

मीडिया में उन्ही कम्पनियों के शेयर हैं जो सरकार के साथ साँठ-गाँठ करके अपने निजी मुनाफे की खातिर देश की नीतियों को बदलने की हैसियत रखती हैं। देश के शीर्ष 5 कॉर्पोरेट घरानों का आज अधिकांश टेलीविजन चैनलों और अखबारों पर कब्जा है। मीडिया का स्वरूप आज जनोन्मुखी से धनोन्मुखी हो चुका है। जिस मीडिया का काम सूचनाएँ देना था वही मीडिया आज विज्ञापनों को सूचनाओं और सूचनाओं को विज्ञापन के रूप में पेश कर रहा है। इसने सूचना और विज्ञापन के अन्तर को खत्म कर दिया है। आज इसका क्रूरतम चेहरा इस उदाहरण से समझिये कि कैसे यह शैम्पू, तेल, क्रीम, सर्फ के छोटे पाउच के विज्ञापन के जरिये गरीबों की जेब से 1 रुपये का सिक्का भी निकाल लता है!

मौजूदा कॉर्पोरेट मीडिया आँख मूँदकर सरमायादारी की हिमायत करता है। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि आये दिन होने वाले दंगे, मॉब लिंचिंग, बैंक घोटाले, सांसदों की खरीद-फरोख्त, पंचायत से लेकर प्रधानमंत्री कार्यालय तक भ्रष्टाचार बदस्तूर जारी है। कलम और कम्प्यूटर पर उँगलियाँ सम्पादक की होती हैं और उसके दिमाग पर नियंत्रण कॉर्पोरेट का होता है। इसके रीढ़हीन मीडिया चिन्तक मोटी-मोटी किताबें लिखकर बड़े-बड़े पैकेज भकोसते हैं। वे अपने रंगारंग कार्यक्रमों के जरिये यह बताने की कोशिश करते हैं कि रोजी-रोटी के लिए संघर्ष करते मजदूर-किसान, दलित, मुस्लिम और आदिवासी राष्ट्रद्रोही हैं। वे मारुति सुजुकी के संघर्षरत हजारों मजदूरों को कातिल घोषित करते हैं। संघर्षरत मजदूरों के दमन उत्पीड़न पर चुप्पी साध लेते हैं। अभी हाल ही में महाराष्ट्र और राजस्थान में हुए किसान आन्दोलनों में इन्होंने धृतराष्ट्र की भूमिका निभायी और उसे बदनाम करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी।

आज लोकतंत्र के पक्ष में उठने वाली हर आवाज को मीडिया के जरिये नक्सली या आतंकवादी कहकर कुचल दिया जाता है। क्षेत्रीय पत्रकारों की हत्याओं का सिलसिला रुकने का नाम नहीं ले रहा, जिसके चलते कई अन्तराष्ट्रीय संस्थाओं ने मानवाधिकार के उल्लंघन के मामले में भारत को काली सूची में डाल दिया है। जो व्यक्ति सरकार के खिलाफ और जनता के पक्ष में आवाज उठाता है, उसे झूठें मुकदमों में फँसाकर जेल में ठूस दिया जाता है। इस देश में एक अघोषित आपातकाल लागू है। मीडिया इन सभी मुद्दों पर चुप है। भारतीय मीडिया आज सरकार की इस धारणा को स्थापित करने में लगा है कि "अगर आप मेरे साथ नहीं हैं तो आप अलग हैं, अगर आप मुझसे अलग हैं तो मेरे दुश्मन हैं"।

न्यूज चैनलों के कारण आज बुद्धिजीवियों और धूर्त ठगों के बीच का अन्तर मिटता जा रहा है। इनकी चर्चाओं में विवादों को जिस तरह गढ़ा और भड़काया जाता है, उसके चलते मध्यमवर्ग में कठमुल्लावाद, अंधविश्वास, जातिवाद और साम्प्रदायिकता को जड़ें जमाने का मौका मिला है। ज्यादातर न्यूज चैनलों की प्राईम टाइम बहसों का मकसद लोकतांत्रिक संवाद और स्वस्थ चर्चा को बढ़ावा देना नहीं बल्कि सनसनी पैदा करना, अनुदार दक्षिणपंथी सोच को आगे बढ़ाना और लोगों की चेतना कुन्द करना है। अव्वल तो बहस के मुद्दे बुनियादी सवालों से ध्यान भटकाने वाले नकली मुद्दे होते हैं, दूसरे इसकी अधिकांश बहसों में गिने-चुने चेहरे होते हैं जिन्हें पूरी कौम के नुमाइन्दे के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और उन्हीं के माध्यम से संकीर्ण विचार धड़ाधड़ परोसे जाते हैं। इनकी चर्चाओं, बहसों में फासीवादी ताकतों, हिन्दुत्ववादी संगठनों से लेकर कट्टरपंथी-पोंगापंथी मौलवियों और खाप पंचायत जैसी मध्ययुगीन शक्तियों को हिन्दू और मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि के रूप में पेश किया जाता है। इससे संकीर्णता और असहिष्णुता को बल मिलता है और प्रगतिशील मूल्य-मान्यतायें पीछे धकेल दी जाती है।

मीडिया के लिए 'जनता' शब्द फालतू और निरर्थक है, जिसके नाम से ही इसके मालिक कुढ़ते हैं। बिग बॉस और राखी का इंसाफ जैसे रियलिटी शो से मध्यम वर्ग की मानसिक विकृति बढ़ जाती है। इसी तरह अमरीकी मीडिया सौ लोगों से सहवास करने का रिकॉर्ड बनाने वाली जेन जुस्का को सेलिब्रिटी बना देता है और भारतीय मीडिया पोर्न स्टार सन्नी लियोनी को सुपर स्टार।

इसका जनविरोधी चेहरा अब खुलकर सामने आ चुका है। पेड न्यूज इसका सबसे आधुनिक हथियार है। पैसा खर्च करके कोई भी अपनी पसन्द की खबर सूचना के रूप में प्रसारित करा सकता है। आज अपराधियों के जन्मदिन पर बड़े चित्र के

साथ पूरे पन्ने का विज्ञापन आता है। उन्हें सन्त और अवतार के रूप में लोगों पर थोपा जाता है। टीवी पर चोर-उचक्कों, बाबाओं, बलात्कारियों और एक से बढ़कर एक मक्कारों का जीवन दर्शन चलाया जाता है कि कौन-कैसे मालामाल हो गया है।

लोकसभा चुनावों में मीडिया बाकायदा पैकेज बनाता है और रेट कार्ड भी छापता है। जो पैकेज खरीदता है, उसी की खबरें चलती हैं। जो नहीं खरीदता है, वह सुर्खियों से नदारद रहता है। मीडिया की आय का 80 प्रतिशत हिस्सा आज विज्ञापनों से आता है। दर्शकों और पाठकों को लुभाने के लिए गलाकाट प्रतियोगिता होती है जिसकी वजह से मूल्यों, नियमों और सच को ताक पर रख दिया जाता है। विज्ञापनों की बैसाखी पकड़कर चलने वाला मीडिया कभी आजाद, निष्पक्ष और सच्चा नहीं हो सकता। मीडिया का व्यवसाय आज 'मानसिक व्याभिचार का धंधा' बन चुका है।

इन सब पर सवाल उठाने पर कॉर्पोरेट मीडिया के चाटुकार तर्क देते हैं कि बिना पैसे के मीडिया हाउस चलाया नहीं जा सकता, तकनीक महँगी हो गयी है। सवाल यह है कि अगर पैसे कमाने हैं तो कोई और धंधा क्यों नहीं कर लेते? अगर सच बोलने की हिम्मत नहीं तो झूठ का प्रचार क्यों करते हो?

यकीनन यह अंधेरे का दौर है लेकिन नाउम्मीदी से कभी दुनिया आगे नहीं बढ़ती, इसे हमेशा उम्मीद वाले लोगों ने ही आगे बढ़ाया है। मुख्यधारा की मीडिया से अलग सोशल मीडिया और वैकल्पिक मीडिया में उम्मीद की रोशनी दिखायी देती है। इसके नये-नये स्वरूप अभी लगातार सामने आ रहे हैं-- जैसे फेसबुक, ट्विटर, यूट्यूब, फ्लिकर, ब्लॉग्स, व्हाट्सएप इत्यादि। हालाँकि इन माध्यमों के जरिये भी समाज को गर्त में ले जाने वाले अपना काम कर रहे हैं। दूसरी बात यह भी है कि यह सीधे-सीधे तकनीक से जुड़ा मामला है और तकनीक पर आज पूँजीपतियों का कब्जा है। इसके कुछ नकारात्मक पक्ष को छोड़ दें तो अभी तक इसके कुछ सकारात्मक पहलू सामने आये हैं, वे बेहद सुखद है और उत्साह भरने वाले हैं। मिस्र, सीरिया, लीबिया, ट्यूनीशिया, नेपाल की क्रान्ति या जन-आन्दोलन और अमरीका के "ओक्युपाई वाल स्ट्रीट" जैसे अभियानों को मुख्यधारा की मीडिया ने कोई तवज्जो नहीं दिया। वहीं सोशल मीडिया पर ऐसी खबरें बहुत चर्चित रहीं।

लेकिन आजकल सोशल मीडिया पर जिस तरीके से तार्किक और सही बातों पर ट्रोल (गाली-गलौज) किया जाता है, जिस तरह राजनीतिक पार्टियाँ इसका गलत इस्तेमाल कर रही हैं, जिस तरह अफवाहें फैलाकर दंगे और मॉब लिंचिंग जैसी घटनाओं को अंजाम दिया जा रहा है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि सोशल मीडिया भी तार्किक, वैज्ञानिक और जनपक्षधर नहीं है। फिर इसका तकनीकी पहलू भी इसकी मुख्य समस्या है। भारत की गरीब जनता के लिए इन्टरनेट और कम्प्यूटर की सुविधा अभी दूर की कौड़ी है। इसके सही दिशा में इस्तेमाल की सीमाएँ हैं, लेकिन काफी कुछ सार्थक करने की गुंजाइश भी है।

आज पत्रकारिता के मूल सिद्धान्त और उसकी पक्षधरता पर सवालिया निशान लगा हुआ है, समाज के साथ उसके सरोकारों पर पुनर्विचार की जरूरत है। ऐसे में वैकल्पिक मीडिया या जनता का मीडिया कुछ उम्मीद जगाता है। मुख्यधारा की मीडिया पर सही सूचना साधनों के अभाव ने ही वैकल्पिक मीडिया की अवधारणा को जन्म दिया है। दरअसल वैकल्पिक मीडिया का अपना एक पूरा इतिहास रहा है। आज हम जिसे मुख्यधारा का मीडिया कहते हैं उसका जन्म भी वैकल्पिक मीडिया के रूप में ही हुआ था। आज मीडिया की जरूरत वास्तव में किसे है और इसे कौन संचालित कर रहा है? सच्चा मीडिया वही है जो "जनता के द्वारा और जनता के लिए" काम करे। ढेरों छोटी-छोटी जनपक्षधर पत्र-पत्रिकाओं ने वैकल्पिक मीडिया का ताना-बाना बुना है। ये पत्र-पत्रिकायें पूँजी की ताकत से नहीं, बल्कि इसमें काम करने वाले सैकड़ों लोगों की मेहनत और लगन से निकलती हैं। ये अँधेरे में रोशनी की किरण जैसी हैं।

कॉर्पोरेट मीडिया के अँधेरे दौर में विकिलीक्स उम्मीद बनकर उभरा। विकिलीक्स ने कॉर्पोरेट मीडिया और अमरीकी प्रशासन की मिलीभगत को तथ्य के साथ नंगा किया। विकिलीक्स ने कॉर्पोरेट मीडिया के झूठ को तार-तार करते हुए बताया कि विभिन्न कट्टरपंथी, उग्रवादी और आतंकवादी संगठनों का मददगार अमरीका किस तरह पूरे विश्व में हस्तक्षेप और उकसावे की कार्यवाइयाँ करता है?

भारत में कोबरापोस्ट के स्टिंग ऑपरेशन ने कॉर्पोरेट मीडिया और सत्तापक्ष के सम्बन्धों की कलई खोल कर रख दी है। कोबरापोस्ट के स्टिंग ने दिखाया कि किस तरह धनलोलुप मीडिया सत्तापक्ष के लिए चुनावी हवा तैयार करता है। इसके लिए धार्मिक प्रवचनों के जरिये हिन्दुत्व को बढ़ावा दिया जाता है। इसने देश के 16 से ज्यादा सबसे बड़े मीडिया संस्थानों को बेनकाब किया। ये संस्थान पैसे के लिए साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास और दंगे-फसाद को बढ़ावा दे रहे थे। इस तरह कोबरापोस्ट के स्टिंग ने भारतीय मीडिया के धनलोलुप और साम्प्रदायिक चेहरे को बेनकाब कर दिया।

वैकल्पिक मीडिया के रूप में मौजूदा समय में हमारे पास अनेक न्यूज पोर्टल और ब्लॉग्स हैं और अनेक लघु पत्रिकाएँ हैं जो मुख्यधारा की मीडिया के समानान्तर खड़े होने का प्रयास कर रही हैं। जरूरत है ऐसे प्रयासों में भाग लेने की, उनका सहारा बनने की, उन्हें समर्थन देकर मजबूत बनाने की।

तूतिकोरिन जनसंघर्ष का बर्बर दमन

--अमित इकबाल

22 मई 2018 को तमिलनाडु के तूतिकोरिन (तुतुकुड़ी) में वेदान्ता रिसोर्सेस की ताम्बा फैक्ट्री, स्टारलाईट इंडस्ट्रीज के खिलाफ हजारों लोग प्रदर्शन कर रहे थे। जब प्रशासन ने उनकी बात अनसुनी कर दी तो उन्होंने पुलिस बैरिकेड तोड़कर कलेक्टर के दफ्तर में घुसने के कोशिश की। प्रशासन की नजर में यह 'हिंसक' कार्रवाई थी जिसे रोकने के लिए निशानेबाज पुलिस बुलाकर गोली चलायी गयी। सोशल मीडिया पर वायरल हुए घटना के वीडियो में साफ दिख रहा है कि प्रशासन ने चुन-चुनकर 14 लोगों को मारा जिनमें से ज्यादातर आन्दोलन के संगठनकर्ता या सक्रिय कार्यकर्ता थे। 17 साल की स्नोलिन के मुँह में बन्दूक ठूँसकर गोली चलायी गयी क्योंकि वह "प्रशासन के लिए गम्भीर खतरा" बन गयी थी।

1992 में महाराष्ट्र सरकार के औद्योगिक विकास निगम ने रत्नागिरि में स्टारलाईट इंडस्ट्रीज को ताम्बा निष्कासन फैक्ट्री खोलने के लिए 500 एकड़ जमीन दी थी। इस फैक्ट्री की प्रस्तावित उत्पादन क्षमता सालाना 60 हजार टन थी। लेकिन जब स्थानीय लोगों ने प्रदूषण के सम्भावित खतरे को देखते हुए कम्पनी के खिलाफ आन्दोलन शुरू किया तो 1993 में वहाँ के कलेक्टर ने इस परियोजना पर रोक लगा दी। लेकिन इस फैसले को चुनौती देते हुए इसकी मूल कम्पनी वेदान्ता मुम्बई हाईकोर्ट पहुँची। इस परियोजना के चलते पर्यावरण और जनजीवन के सम्भावित नुकसान पर शोध कमेटी भी बनायी गयी। उस कमेटी की रिपोर्ट के मुताबिक समुद्र के इतने नजदीक ऐसी औद्योगिक गतिविधि चलाना पर्यावरण और स्थानीय जनजीवन के लिए खतरनाक है।

महाराष्ट्र में खारिज की गयी परियोजना के लिए 1996 में तमिलनाडु में जमीन दे दी गयी। केन्द्रीय वन और पर्यावरण मंत्रालय की तरफ से किसी तरह की पर्यावरण सम्बन्धी जाँच से पहले ही पर्यावरण सम्बन्धित मंजूरी भी मिल गयी। वहाँ के स्थानीय लोगों ने भी अपनी जिन्दगी और पर्यावरण तबाह होने के डर से आन्दोलन करना शुरू किया। इसके चलते तमिलनाडु राज्य पर्यावरण नियंत्रण बोर्ड और नागपुर स्थित राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी संस्थान को जिम्मेदारी दी गयी कि इस कम्पनी से होनेवाले प्रदूषण की जाँच करे।

1998 में नागपुर स्थित राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान ने जाँच रिपोर्ट में बताया कि स्टारलाईट कम्पनी आस-पास हरित क्षेत्र विकसित करने में नाकाम रही है। ऐसे कुछ सामानों का उत्पादन कर रही हैं जिसका अनुमति नहीं है। इसने भूगर्भ जल में ताम्बा, लोहा, आर्सेनिक, एलुमिनियम, सेलेनियम, सीसा का कचरा फेंककर प्रदूषित किया है, वायु की गुणवत्ता निगरानी करने वाली ऑनलाइन मशीन से छेड़छाड़ की है। यह कारखाना मुन्नार की खाड़ी से मात्र 14 किलोमीटर दूरी पर है जो समझौते की शर्त के खिलाफ है। लेकिन यह रिपोर्ट पेश करने के 45 दिन के अन्दर ही इस संस्थान ने एक दूसरी रिपोर्ट पेश की जिसमें स्टारलाईट को निर्दोष ठहराया गया। इत्तेफाक यह है कि सन 1999 से 2007 के बीच इस संस्थान को अलग-अलग शोध कार्य के लिए 1.27 करोड़ का अनुदान मिला। तमिलनाडु प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने स्टारलाईट के लिए सालाना उत्पादन की सीमा 70 हजार टन तय की थी, जबकि 2004 में यह कम्पनी 1 लाख 75 हजार टन उत्पादन कर रही थी।

हालाँकि समझौते के अनुसार, मुन्नार की खाड़ी से कम से कम 25 किलोमीटर दूर फैक्ट्री खोलना तय हुआ था। लेकिन इस कम्पनी ने इसे पहले ही नजरंदाज कर दिया और खाड़ी से मात्र 14 किलोमीटर की दूरी पर फैक्ट्री खोल ली। इसके चलते आस-पास के खेत, जंगल, पानी और हवा पर गम्भीर खतरा पैदा हो गया। प्रदूषण बढ़ने के चलते किनारे की मछलियाँ गहरे समुन्दर की तरफ चली गयीं और मछुआरों की रोजी-रोटी पर खतरा पैदा हो गया।

1998 से लगातार कारखाने से जहरीली गैस लीक होने की घटना भी हो रही है और इससे कई लोग गम्भीर रूप से बीमार भी हो गये हैं। कचरों को बिना शोधन किये आस-पास के इलाके में फैलाने के चलते खेत और भूगर्भ जल भी प्रदूषित हुआ है। इसका असर सिर्फ स्वास्थ्य पर ही नहीं बल्कि रोजगार पर भी पड़ने लगा।

तिरुनेलवेली मेडिकल कॉलेज द्वारा 2006 में किये गये एक शोध के अनुसार इस इलाके में प्रदूषण की हालत कुछ ऐसी है भूगर्भ जल में लोहे की मात्रा औसत से 17 से 20 गुणा ज्यादा है, जिसके चलते भारी थकावट, जोड़ों का दर्द और पेट में दर्द बढ़ जाता है। बाकी जगहों की तुलना में

साँस सम्बन्धी बिमारी से ग्रस्त लोगों की संख्या 14 फीसदी ज्यादा है और नाक, कान और गले की बीमारी भी अधिक पायी गयी है। महिलाओं का मासिक चक्र भी बहुत असंतुलित है। यह सर्वेक्षण जब किया गया था उस समय इस कारखाने की सालाना उत्पादन क्षमता 1 लाख 70 हजार टन थी, लेकिन इस रिपोर्ट के आने के कुछ समय बाद, 2007 में इस कारखाने की उत्पादन क्षमता 4 लाख टन सालाना तक बढाने की अनुमति दे दी गयी।

कारखाना मौत का कुआँ बन गया। सितम्बर 2010 में कारखाने की तेजाब की टंकी में गिर जाने से एक मजदूर की मौत हो गयी। एक मजदूर आँखों में तेजाब लगने के चलते अँधा हो गया। काम के दौरान एक मजदूर इतना जख्मी हुआ कि 9 टाँके लगाने पड़े। मई-जून, 2010 में कारखाने के सल्फयूरिक एसिड प्लांट में हड़बड़ी में पम्प हाउस बनाते हुए वह ढह गया और एक मजदूर की मौत हो गयी। जनवरी 2010 में एक मजदूर दुर्घटना का शिकार हुआ और उसका एक पैर खराब हो गया। 2009 के अक्टूबर-नवम्बर में कारखाने के अन्दर भारी ट्रक के नीचे दबकर एक मजदूर की मौत हो गयी। जून 2008 में चिमनी साफ करने के दौरान कचरे का ढेर गिरने से एक मजदूर की गर्दन और एक हाथ कट गया और वहीं उसकी मौत हो गयी। 2007 में चिमनी साफ करने वाले एक और मजदूर की मौत हो गयी। एक मजदूर ट्रक नीचे सो रहा था जब ट्रक उस पर से गुजर गया और उसकी मौत हो गयी।

इन्हीं वजहों से पिछले 22 साल से इलाके के लोग अहिंसक तरीके से कम्पनी के खिलाफ लड़ रहे थे। पिछले साल फरवरी से लोग हर रोज हजारों की संख्या में कलेक्टर के दफ्तर के सामने शान्तिपूर्ण रूप से इस कारखाने को बन्द करवाने के लिए धरने पर इसी 'हिंसक' कार्रवाई को रोकने के लिए गोली चलाई गयी। इस मामले में सरकार जलियांवाला बाग के खूनी जनरल डायर को भी पीछे छोड़ चुकी है।

कारखाने के खिलाफ स्थानीय लोगों की लड़ाई में मजदूरों ने भी साथ दिया। जब कारखाने को बन्द करवाया गया तो कम्पनी ने कारखाना खोलने के लिए मजदूरों में हस्ताक्षर अभियान चलाया। लेकिन रोजी-रोटी के संकट के बावजूद मजदूरों ने स्थानीय लोगों का साथ दिया। प्रशासन ने मजदूरों को ऐसे आन्दोलोनों में हिस्सेदारी करने से रोकने के लिए भी शांतिपूर्ण आन्दोलन पर गोलियाँ बरसाई थी। गोलीबारी के बाद प्रशासन ने मजदूर बस्ती और गाँव में मजदूरों को गिरफ्तार करने की कोशिश की। इसके खिलाफ मजदूर और स्थानीय लोग एकजुट होकर अभी भी लड़ रहे हैं।

ब्रिटिश कम्पनी वेदान्ता ने देश के अन्य हिस्सों में भी लोगों की जिन्दगी बर्बाद की है। यह कम्पनी ओडिशा खनन निगम की सहायता से जनजीवन तथा पर्यावरण की परवाह किये बिना ही ओडिशा की नियामगिरि पहाड़ में अभ्रक खनन का काम शुरू कर चुकी थी। वहाँ के रहने वाले डोंगरिया कोंध जनजाति तथा जमीन, पानी, जंगल के लिए लड़ने वाले सभी लोकतांत्रिक ताकतों की सामूहिक लम्बी लड़ाई इसको रोकने में सफल हुई है। सरकारी उद्योग, भारत एलुमिनियम कम्पनी (बालको) का 51 फीसदी हिस्सा वेदान्ता को बेचे जाने के बाद एक भयावह दुर्घटना घटी। छत्तीसगढ़ के कोरबा में बालको परिसर के पम्प हाउस में निर्माणधीन चिमनी ढह गयी और इससे 40 लोगों की मौत हो गयी। बालको और चीनी ठेकेदार को गिरफ्तार कर लिया गया। पम्प हाउस बन्द करने का आदेश जारी हो गया। इस दुर्घटना में स्टारलाईट (यानी वेदान्ता) को निर्दोष ठहराया गया और सिर्फ बालको और सरकारी अफसरों पर मुकदमा चलाया गया। 'सेसा गोवा' गोवा की बहुत बड़ी लौह अयस्क खनन कम्पनी है, इसकी मालिक कम्पनी वेदान्ता है। 2014 में गोवा हाई कोर्ट ने गोवा में सभी तरह के खनन को गैर कानूनी घोषित कर दिया था। इस फैसले को बदलकर मुम्बई हाई कोर्ट ने 2015 में स्टारलाईट (वेदान्ता) को फिर से खनन की छूट दे दी, जिसके खिलाफ सुप्रीम कोर्ट ने फिर से रोक लगाने का आदेश दिया है। दुनिया भर में वेदान्ता कम्पनी जहाँ भी गयी है, वहाँ उसने भारी तबाही मचायी है।

वेदान्ता सरकारों पर अपना प्रभाव जमा लेती है। वह पार्टियों को चन्दा भी देती है। एक जन-याचिका की सुनवाई में पता चला कि 2004 से 2015 तक वेदान्ता ने भारतीय जनता पार्टी को 5 करोड़ और कांग्रेस को करीब 9 करोड़ रुपये चन्दा दिया था। इस लेन-देन की प्रक्रिया को कानूनी दायरे में लाना मुश्किल होता था। इसे 2018 में मोदी सरकार ने आसान कर दिखाया। सरकार ने वित्त विधेयक 2018 के माध्यम से विदेशी अंशदान नियमन अधिनियम (फेरा) में संशोधन करके उन सभी विदेशी योगदान को मान्य करार दिया जो 1976 के बाद किये गये हैं।

इन तथ्यों से पता चलता है कि मुक्त-बाजार की नीति के चलते वेदान्ता जैसी विदेशी कम्पनियाँ भारत में बेलगाम मुनाफा कमाती हैं और देश के पर्यावरण का विनाश करती हैं। सरकारें भी बेशर्मी से इन्हीं कम्पनियों के पक्ष में खड़ी हैं। जबकि अन्तरराष्ट्रीय बाजार में भारत को 'प्रदूषण का नरक' कहा जाता है। यहाँ की सरकारी संस्थाओं का केवल यही काम रह गया है कि पर्यावरण सम्बन्धित नीतियों को ताक पर रखकर कॉर्पोरेट घरानों की सेवा करें। इसलिए देश की जनता को ही तय करना है कि इन देशी-विदेशी पूँजीपतियों और उनकी रहनुमा सरकार के खिलाफ संघर्ष को किस दिशा में ले जाये।

असम में 40 लाख लोगों की नागरिकता संकट में

(प्रभावितों में मुसलमान ही नहीं हिन्दू भी शामिल)

--प्रो. अपूर्वानन्द

असम में रह रहे तकरीबन 40 लाख लोगों के लिए 30 जुलाई का दिन एक आपदा से कम न था। ये वे मनुष्य हैं जिनकी भारतीय नागरिकता संदिग्ध हो गयी है क्योंकि उच्चतम न्यायालय के आदेश के अनुसार तैयार की गयी राष्ट्रीय नागरिक सूची में उनका नाम नहीं है। एक ही परिवार में अगर बेटे का नाम है तो माँ का नहीं, बहन का है तो भाई का नहीं। इससे इन लाखों लोगों में भीषण बेचैनी है क्योंकि इन्हें नहीं मालूम कि सूची में नाम होने का अर्थ इनके भविष्य के लिए क्या होगा। क्या वे निगरानी शिविरों में डाल दिये जाएँगे, क्या उन्हें भारत से बाहर जाने को कहा जाएगा? क्या उनका मताधिकार समाप्त हो जाएगा? क्या राजकीय संसाधन आज से उनके लिए नहीं होंगे? क्या वे अपने ही पड़ोसियों के लिए अनचाहे हो जाएँगे? जो हो, कामू के कथापात्रों की तरह वे खुद अपनी निगाह में संदिग्ध हो चुके हैं।

असम एकमात्र प्रदेश है जिसके लिए ऐसी सूची बनायी गयी है। इसकी ऐतिहासिक विशेषता, इसमें बाहर से आने वाले लोगों की संख्या के कारण स्थानीय आबादी में खो जाने या अपनी ही जमीन से बेदखल हो जाने का डर हमेशा से एक वाजिब कारण माना जाता रहा है कि उनकी पहचान की जाये जो बाहरी हैं। भारत और पाकिस्तान के बँटवारे के बाद लोगों के सीमा के आर-पार आने-जाने का सिलसिला खत्म न हुआ। असम निवासियों को लगता रहा कि विभाजन का बोझा उन्हें अधिक ढोना पड़ा है और जो उनका था उसमें काफी कुछ की साझेदारी उन्हें बाद में आनेवालों से करनी पड़ी है। 1951 में नागरिकों की एक सूची बनायी गयी। माना गया कि इसमें दर्ज लोग असली नागरिक हैं। उसके बाद बांग्ला देश के निर्माण के कारण बड़ी संख्या में लोग सीमा पार से आये। जाहिर है इनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। असम के लोगों का कहना है कि धर्म से मतलब नहीं। जो किसी भी प्रकार अपना सम्बन्ध इस सूची से न दिखा सकें उन्हें बाहरी मानना चाहिए। लम्बे वक्त तक चला असम आन्दोलन इन्हीं बाहरी लोगों की पहचान की माँग पर आधारित था। 1985 के असम समझौते के मुताबिक आखिरी तारीख 24 मार्च, 1971 तय हुई। जो इसके बाद के हैं, वे बाहरी हैं।

राष्ट्र राज्य बनने की विडम्बना यह है कि यदि कानून और कागजात के मुताबिक आप नागरिक नहीं हैं तो आप 'अमनुष्य' में बदल जाते हैं। बाहरी, विदेशी, भारत के लिए बांग्लादेशी जैसे शब्द गाली की तरह हैं। नागरिकता के कायदों में प्रशिक्षित न होने के कारण जिनके पास अपने होने का कोई राजकीय प्रमाण पत्र (जन्म, स्कूल, आदि) नहीं है वे खुद ब खुद सूची से बाहर हो जाते हैं। आश्चर्य नहीं कि बड़ी संख्या में इस सूची से 48 साल की मैमूना या 52 साल की रूप बानू जैसी औरतें बाहर हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि इसे संकट की जगह आपदा कहना ही उचित है। शादीशुदा औरतों को नियम के मुताबिक कोई प्रमाण पेश करना है जो उनके पिता, पति से उनका सम्बन्ध साबित कर सके। लेकिन अगर उनके पास न विवाह का, न जन्म का प्रमाण हो तो राज्य की एजेंसी क्या करे? फिर ऐसी औरतें कहाँ जाएँ? क्या वे गायब हो जाएँ?

प्रभावितों में अधिक संख्या मुसलमानों की है लेकिन हिन्दू भी इस सूची से बाहर हैं। मुसलमानों में बेचैनी बढ़ने का एक वाजिब कारण भारत सरकार का वह प्रस्ताव है जिसके मुताबिक मुसलमानों को छोड़कर कर बाकी धर्मों के वैसे लोगों को जो अगल-बगल के मुल्कों से किसी कारण भारत में आ गये हैं, भारतीय नागरिकता दी जा सकेगी। मुसलमानों को खासकर इस अधिकार से वंचित कर देने का कारण स्पष्ट है। इस प्रस्ताव के चलते हिन्दू चाहे किसी देश के हों उनका भारत पर स्वाभाविक और पहला हक है। उसी तरह मुसलमानों का इस देश पर हक नहीं है, वे इस देश से बराबरी के व्यवहार की उम्मीद नहीं कर सकते।

असम के वरिष्ठ बुद्धिजीवी हीरेन गोहाईं ठीक ही कहते हैं कि यह भारत को इजराइल बनाने की साजिश है। इजराइल का कहना है कि दुनिया के किसी भी हिस्से में रहनेवाले यहूदी का स्वाभाविक अधिकार इजराइल पर है और यदि वह चाहे उसे इजराइली नागरिकता दी जाएगी।

लेकिन असम में इसका विरोध हो रहा है। वह धर्मनिरपेक्ष असमिया पहचान पर आधारित विरोध है। फिर भी समझना

कठिन नहीं है कि आज के माहौल में कौन सी आबादी अधिक घबराई और डरी हुई है!

इस वातावरण में नागरिकता सूची के जारी होने का तात्पर्य और सामाजिक प्रभाव भी साधारण समय से अलग होगा। केन्द्र और राज्य सरकारें भले कहें कि जिनके नाम सूची में नहीं हैं उन पर कोई दंडात्मक कार्रवाई नहीं होगी, उनके आश्वासन पर इसलिए भरोसा मुश्किल है कि एक लम्बा अभियान उस दल ने चलाया है जिसकी आज सरकार है जिसमें बांग्लादेशी के नाम पर मुसलमानों के खिलाफ नफरत फैलाई और गहरी की गयी है। राजकीय संस्थाओं का स्वाभाविक दुराव मुसलमान झेल रहे हैं।

क्या इस मानवीय संकट का सामना हम कर पाएँगे? क्या हम समझ पाएँगे कि राष्ट्र आप्रवासियों से बनते हैं। मनुष्य चाहता है कि उसकी जड़ हो लेकिन वह दरअसल पाँवोंवाला प्राणी है। यानी आना-जाना, अजनबी जगह को अपना बनाना और अजनबी लोगों का अपना होना उसकी फितरत है। नागरिकता जैसी अवधारणा इस मानवीय स्वभाव को पूरी तरह से समो नहीं पाती। यह बात उन सबको समझनी होगी जो इन 40 लाख सूची-विस्थापितों की आशंका से सहानुभूति नहीं रखते। एक मित्र ने ठीक ही पूछा कि जो भारतीय 5 साल अमरीका में रहकर उसकी नागरिकता चाहते हैं, वे 40 साल से भारत में रहते आ रहे लोगों को वतन बदर करने की वकालत करते वक्त क्या अपने भीतर के विरोधाभास पर कभी विचार करेंगे? जब यह विचार शुरू होगा तब उत्तरनागरिकता का मनुष्य युग आरम्भ हो पाएगा।

(साभार : न्यूजसेन्ट्रल24X7)

व्यंग्य

प्रेमचन्द के फटे जूते

--हरिशंकर परसाई

प्रेमचन्द का एक चित्र मेरे सामने है, पत्नी के साथ फोटो खिंचा रहे हैं। सर पर किसी मोटे कपड़े की टोपी, कुर्ता और धोती पहने हैं। कनपटी चिपकी है, गालों की हड्डियाँ उभर आयी हैं, पर घनी मूँछे चेहरे को भरा-भरा बतलाती हैं।

पाँवों में कैनवस के जूते हैं, जिनके बन्द बेतरतीब बन्धे हैं। लापरवाही से उपयोग करने पर बन्द के सिरों पर लोहे की पतरी निकल जाती है और छेदों में बन्द डालने में परेशानी होती है। तब बन्द कैसे भी कस लिये जाते हैं।

दाहिने पाँव का जूता ठीक है, मगर बाएँ जूते में बड़ा छेद हो गया है, जिसमें से अँगुली बाहर निकल आयी है।

मेरी दृष्टि इस जूते पर अटक गयी है। सोचता हूँ- फोटो खिंचाने की अगर ये पोशाक है, तो पहनने की कैसी होगी? नहीं, इस आदमी की अलग-अलग पोशाकें नहीं होंगी। इसमें पोशाकें बदलने का गुण नहीं है। यह जैसा है, वैसा ही फोटो में खिंच जाता है।

मैं चेहरे की तरफ देखता हूँ। क्या तुम्हें मालूम है, मेरे साहित्यिक पुरखे कि तुम्हारा जूता फट गया है और अँगुली बाहर दिख रही है? क्या तुम्हें इसका जरा भी एहसास नहीं है? जरा लज्जा, संकोच या झेंप नहीं है? क्या तुम इतना भी नहीं जानते कि धोती को थोड़ा नीचे खींच लेने से अँगुली ढक सकती है? मगर फिर भी तुम्हारे चेहरे पर बड़ी बेपरवाही, बड़ा विश्वास है! फोटोग्राफर ने जब 'रेडी-प्लीज' कहा होगा, तब परम्परा के अनुसार तुमने मुस्कान लाने की कोशिश की होगी, दर्द के गहरे कुएँ के तल में कहीं पड़ी मुस्कान को धीरे-धीरे खींचकर ऊपर निकाल रहे होंगे कि बीच में ही 'क्लिक' करके फोटोग्राफर ने 'थैंक यू' कह दिया होगा। विचित्र है ये अधूरी मुस्कान। यह मुस्कान नहीं है, इसमें उपहास है, व्यंग्य है!

यह कैसा आदमी है, जो खुद तो फटे जूते पहने फोटो खिंचवा रहा है, पर किसी पर हँस भी रहा है।

फोटो ही खिंचाना था, तो ठीक जूते पहन लेते या न खिंचाते। फोटो न खिंचाने से क्या बिगड़ता था! शायद पत्नी का आग्रह रहा हो और तुम 'अच्छा चल भई' कहकर बैठ गये होंगे। मगर यह कितनी बड़ी 'ट्रेजडी' है कि आदमी के पास फोटो खिंचाने को भी जूता न हो। मैं तुम्हारी यह फोटो देखते-देखते, तुम्हारे क्लेश को अपने भीतर महसूस करके जैसे रो पड़ना चाहता हूँ, मगर तुम्हारी आँखों का यह तीखा दर्द भरा व्यंग्य मुझे एकदम रोक देता है।

तुम फोटो का महत्त्व नहीं समझते। समझते होते, तो किसी से फोटो खिंचाने के लिए जूते माँग लेते। लोग तो माँगे के कोट से वर-दिखाई करते हैं और माँगे की मोटर से बरात निकालते हैं, तुमसे जूते ही माँगते नहीं बने! तुम फोटो का महत्त्व नहीं जानते। लोग तो इत्र चुपड़कर फोटो खिंचाते है जिससे फोटो में खुशबू आ जाये। गंदे से गंदे आदमी की फोटो भी खुशबू देती है।

टोपी आठ आने में मिल जाती है और जूते उस जमाने में भी पाँच रुपये से

कम में क्या मिलते होंगे! जूता हमेशा टोपी से कीमती रहा है। अब तो अच्छे जूते की कीमत और बढ़ गयी है और एक जूते पर पचीसों टोपियाँ न्योछावर होती हैं। तुम भी जूते और टोपी के अनुपातिक मूल्य के मारे हुए थे। यह विडम्बना मुझे इतनी तीव्रता से कभी नहीं चुभी, जितनी आज चुभ रही है जब मैं तुम्हारा फटा जूता देख रहा हूँ। तुम महान कथाकार, उपन्यास सम्राट, युग-प्रवर्तक, जाने क्या-क्या कहलाते थे, मगर फोटो में तुम्हारा जूता फटा हुआ है।

मेरा जूता भी कोई अच्छा नहीं है। यों ऊपर से अच्छा दिखता है। अँगुली बाहर नहीं निकलती, पर अँगूठे के नीचे तला फट गया है। अँगूठा जमीन से घिसता है और पैनी गिट्टी पर कभी रगड़ खाकर लहूलुहान भी हो जाता है।

पूरा तला गिर जायेगा, पूरा पँजा छिल जायेगा, मगर अँगुली बाहर नहीं दिखेगी। तुम्हारी अँगुली दिखती है, पर पाँव सुरक्षित है। मेरी अँगुली ढकी है पर पंजा नीचे घिस रहा है। तुम परदे का महत्त्व नहीं जानते, हम परदे पर कुर्बान हो रहे हैं।

तुम फटा जूता बड़े ठाठ से पहने हो! मैं ऐसे नहीं पहन सकता। फोटो तो जिन्दगी भर इस तरह नहीं खिंचाऊँ, चाहे कोई जीवनी बिना फोटो के ही छाप दे।

तुम्हारी यह व्यंग्य-मुस्कान मेरे हौसले पस्त कर देती है। क्या मतलब है इसका? कौन सी मुस्कान है ये?

- क्या होरी का गोदान हो गया?

- क्या पूस की रात में सूअर हलकू का खेत चर गये?

- क्या सुजान भगत का लड़का मर गया; क्योंकि डॉक्टर क्लब छोड़कर नहीं आ सकते?

नहीं मुझे लगता है माधो औरत के कफन के चन्दे की शराब पी गया।

वही मुस्कान मालूम होती है।

मैं तुम्हारा जूता फिर देखता हूँ। कैसे फट गया यह, मेरी जनता के लेखक?

क्या बहुत चक्कर काटते रहे?

क्या बनिये के तगादे से बचने के लिए मील-दो-मील का चक्कर लगाकर घर लौटते रहे?

चक्कर लगाने से जूता फटता नहीं, घिस जाता है।

कुम्भनदास का जूता भी फतेहपुर सीकरी जाने-आने में घिस गया था। उसे बड़ा पछतावा हुआ। उसने कहा-

'आवत जात पन्हैया घिस गयी, बिसर गयो हरी नाम।'

और ऐसे बुलाकर देनेवालों के लिए कहा गया था-- 'जिनके देखे दुःख उपजत है, तिनकों करबो परै सलाम!' चलने से जूता घिसता है, फटता नहीं है। तुम्हारा जूता कैसे फट गया?

मुझे लगता है, तुम किसी सख्त चीज को ठोकर मारते रहे हो। कोई चीज जो परत-दर-परत सदियों से जमती गयी है, उसे शायद तुमने ठोकर मार-मारकर अपना जूता फाड़ लिया। कोई टीला जो रास्ते पर खड़ा हो गया था, उस पर तुमने अपना जूता आजमाया।

तुम उसे बचाकर, उसके बगल से भी तो निकल सकते थे। टीलों से समझौता भी तो हो जाता है। सभी नदियाँ पहाड़ थोड़े ही फोड़ती हैं, कोई रास्ता बदलकर, घूमकर भी तो चली जाती है।

तुम समझौता कर नहीं सके। क्या तुम्हारी भी वही कमजोरी थी, जो होरी को ले डूबी, वही 'नेम-धरम' वाली कमजोरी? 'नेम-धरम' उसकी भी जंजीर थी। मगर तुम जिस तरह मुस्कुरा रहे हो, उससे लगता है कि शायद 'नेम-धरम' तुम्हारा बन्धन नहीं था, तुम्हारी मुक्ति थी।

तुम्हारी यह पाँव की अँगुली मुझे संकेत करती सी लगती है, जिसे तुम घृणित समझते हो, उसकी तरफ हाथ की नहीं, पांव की अंगुली से इशारा करते हो?

तुम क्या उसकी तरफ इशारा कर रहे हो, जिसे ठोकर मारते-मारते तुमने जूता फाड़ लिया?

मैं समझता हूँ। तुम्हारी अँगुली का इशारा भी समझाता हूँ और यह व्यंग्य-मुस्कान भी समझाता हूँ।

तुम मुझ पर या हम सभी पर हँस रहे हो। उन पर जो अँगुली छिपाये और तलुआ घिसाये चल रहे हैं, उन पर जो टीले को बचाकर बाजू से निकल रहे हैं। तुम कह रहे हो-- मैंने तो ठोकर मार-मारकर जूता फाड़ लिया, अँगुली बाहर निकल आयी, पर पाँव बच रहा और मैं चलता रहा, मगर तुम अँगुली को ढाँकने की चिन्ता में तलुवे का नाश कर रहे हो। तुम चलोगे कैसे?

मैं समझता हूँ। मैं तुम्हारे फटे जूते की बात समझाता हूँ, अँगुली का इशारा समझता हूँ, तुम्हारी व्यंग्य-मुस्कान समझता हूँ।

आपकी हँसी

निर्धन जनता का शोषण है
कह कर आप हँसे
लोकतंत्र का अंतिम क्षण है
कह कर आप हँसे

सब के सब हैं भ्रष्टाचारी
कह कर आप हँसे
चारों ओर बड़ी लाचारी
कह कर आप हँसे

कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पा कर
फिर से आप हँसे।

--रघुवीर सहाय

व्यंग्य

प्रतिभाशाली पिता का होना

--आनन्द पाण्डेय

अब तक हम गलत सोचते आये थे। वर्षों तक हमें पीछे ले जाने वाली शिक्षा दी गयी। पिता ने कहा नाम रोशन करना। हमने सोचा नाम रोशन करने की सारी जिम्मेदारी हमारी खुद की है। गलती हो गयी। उसी समय पलट कर पिता से कहना चाहिए था, आप कितने प्रतिभाशाली हैं? आप कितने टैलेण्टेड हैं? बेटे की सफलता, बाप के टैलेण्ट पर निर्भर है। जैसे मकान और जमीन उत्तराधिकार में मिलती है वैसे ही प्रतिभा भी मिलती है। हमने सोचा था अपनी प्रतिभा से रास्ता बना लेंगे। पिता ने कहा 'पूत कपूत तो का धन संचय। यह कहावत पुत्र को संकट में डालने वाली साबित हुई। अब इस कहावत पर अमल करने वाले हाथ मल रहे हैं। स्कूल के दिनों में एक मित्र अक्सर घूमता मिलता। मैं सोच में पड़कर पूछता 'क्या हो रहा है' वह हमेशा बोलता 'पापा जानें'। वह आजकल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

जीवन में सफलता के लिये दो चीजों पर विश्वास बहुत जरूरी है। एक परमपिता की शक्ति दूसरे नीचे के पिता की प्रतिभा। हमने दोनों पर विश्वास नहीं किया। अब भोग रहे हैं। परमपिता ने नीचे के पिता से कुछ बात की होगी। इसका अन्दाजा मुझे नहीं था। मैंने इसकी उपेक्षा की इसलिए उपेक्षित हूँ। मित्र कहता है 'यह गलत है, तुम्हारे मन का वहम है। कोलम्बस की नाव उसके पापा ने नहीं चलायी थी, न सचिन के रन उनके पिता ने दौड़कर पूरे किये थे।' मैंने कहा तुम्हारा कहना सही है। कोलम्बस खुद गया। हजारों तकलीफें झेलते हुए लेकिन वहाँ जाकर देखा कि पिताओं वाले लोग पहले से पहुँचे हैं। सचिन तेंदुलकर स्वयं पिता हैं। उनका लड़का सीधे रणजी में खेल गया। प्रतिभाशाली ताकते रह गये। पिता ने बेटे के लिए दौड़ लगायी।

कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में छात्रसंघ की राजनीति करने वाले कितने ही प्रतिभाशाली युवा नेता दो-चार साल में गायब हो जाते हैं। उनके शहर में नेता जी के लड़के को टिकट मिलता है। वह लड़का जो किसी जगह से प्रबन्धन या कम्प्यूटर की डिग्री लेकर लौटता है। नारा लगाने वालों के गले फट जाते हैं। उन्हें ठण्डा पानी नहीं मिलता। प्रतिभाशाली पिता के बेटों को पद चेरी की तरह सजाकर मिलते हैं। इंदिरा के बाद राजीव को प्रधानमंत्री पद सजाकर मिला। गाँव में प्रधान का लड़का ही प्रधान बना है।

इसमें बुराई क्या है? इस परम्परा के स्थापित होने पर सामाजिक संघर्ष समाप्त हो जायेगा। न केवल आदमियों के बीच बल्कि जानवर भी खुश हो जायेंगे। गधा आकर किसान के लड़के से बोलेगा-- मैं खानदानी बोझ ढोता हूँ। तुम खानदानी किसान हो, क्यों पढ़ रहे हो? मुझे गधा और तुम्हें किसान ही रहना है। घोड़ा बनने के लिए मुझे घोड़े को अपना बाप बनाना था। पिता वही अच्छा होता है जो गॉडफादर हो जाये।

लड़का सोच मे है। पिता कैसे बदले? पिता बदल नहीं सकते। लेकिन उनकी संख्या तो बढ़ा सकते हैं। सफल लोग हर काम लायक जगह पर एक पिता रखते हैं। सभ्य भाषा में उसे गॉडफादर कहते हैं। गॉडफादर फादर से कीमती होता है। पिता कहते ही एक लाचार चेहरा उभर जाता है। जो बेटे की सफलता के लिए सुमरनी जपता है। छोटी सी सफलता पर भावुक हो जाता है। जबकि गॉडफादर का नाम आते ही एक रोबीला चेहरा सामने आता है। जो सुरक्षा का एहसास देता है। अच्छे पिता की सफलता फादर से गॉडफादर बनने में है।

हम क्या करें? हमने गलत राह चुनी। हमसे पहले हमारे पिता ने चुनी थी। यह देश पिताओं के गलत निर्णय का परिणाम भोग रहा है। हमने राष्ट्रपिता बनाया। वे कुछ करते उसके पहले इसी शिकायत पर मार दिये गये कि वे कुछ कर नहीं रहे। हमें नेशन का गॉडफादर बनाना था। हमने फादर ऑफ नेशन बनाया मजबूरी उसके पद में थी। फिर उसे मार भी दिया। पाकिस्तान का बीमारी से मर गया। गॉडफादर होता तो कभी न मरता।

राजनीति में गॉडफादर रखने वाले हमेशा प्रासांगिक बने रहते हैं। साहित्य में इनकी दरकार उससे भी अधिक होती है। साहित्य में कुछ गॉडफादरों ने पब्लिक लिमिटेड कम्पनी खोल रखी है। उनके झोले में कविता, कहानी या आलोचना के साथ-साथ प्रोफेसर पद का नक्शा पड़ा होता है। वे रास्ता बताते हैं। वहाँ तक पहुँचा भी देते हैं। कुछ राज्याभिषेक करने और इतिहास में दर्ज कराने का ठेका भी लेते हैं। राजधानी में बैठे आलोचना के दो वृद्ध पुरूष इसी श्रेणी में हैं। आलोचना के क्षेत्र में उनके अच्छे कामों ने गॉडफादर बनने में मदद की है। अब वे आलोचना से नहीं उससे इतर कामों से जाने जाते हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय या जेएनयू का लड़का

शेष पेज 46 पर देखें

ऑनलाइन कम्पनी फ्लिपकार्ट का वालमार्ट से गठजोड़

खुदरा व्यापार के क्षेत्र में दुनिया भर में दैत्य के नाम से बदनाम वालमार्ट कम्पनी इन्टरनेट के माध्यम से कारोबार करनेवाली कम्पनी फ्लिपकार्ट से गठजोड़ कर रही है।

वालमार्ट का यह कदम भारत में ऑनलाइन व्यापार में अपनी जगह बनाने और यहाँ के बाजार पर पूरी तरह से कब्जा करने के इरादे से उठाया गया है। यह करार 1.07 लाख करोड़ रुपये का है जिसमें वालमार्ट का 77 फीसदी शेयर होगा, यानी मालिकाना वालमार्ट का होगा। वही इस नयी कम्पनी को संचालित करेगी। इस सौदे को लेकर छोटे दुकानदारों में काफी गुस्सा है। चेंबर ऑफ ट्रेड एंड इंडस्ट्री, किसान संगठन और कुछ विपक्षी पार्टियों ने इसे जनविरोधी बताते हुए, इसके खिलाफ प्रदर्शन करने का फैसला किया है। कंफेडरेशन ऑफ ऑल इंडिया ट्रेडर्स के महासचिव ने कहा है कि देश में ऑनलाइन व्यापार के लिए कोई नीति और नियामक नहीं है। इसके चलते खुदरा कम्पनियों द्वारा अधिक छूट देकर कम मूल्य पर माल बेचने से दुकानदार पहले से तबाह होते आये हैं और इस सौदे से उनकी तबाही में और तेजी आयेगी। पूरे भारत में ऑनलाइन व्यापार में 3500 से ज्यादा कर्मचारी लगे हुए हैं। इनका भविष्य भी अंधेर में है। वे नयी कम्पनी के व्यापार नियमों और शर्तों को लेकर चिंतित हैं।

फ्लिपकार्ट जिस वालमार्ट कम्पनी की मेजबानी कर रही है, उसका इतिहास खून से सना हुआ है। वॉलमार्ट भी अपने कर्मचारियों के शोषण और छोटे कारोबारियों, जैसे- ठेले खोमचे, किराना दुकान, खोखे आदि की तबाही के लिए बदनाम है। अपनी नृशंसता के लिए यह अपने पैतृक देश अमरीका में ही 'वेंटोविले का दानव' के नाम से जानी जाती है क्योंकि यह वहाँ के कई लाख छोटे कारोबारियों को निगल चुकी है। अक्टूबर 2006 में कम्पनी फ्लोरिडा शाखा के कर्मचारियों ने बगावत कर कर दी थी। कम्पनी उन्हें 24 घंटे की शिफ्टिंग के लिए मजबूर करती थी और ड्यूटी लगाने का काम स्थानीय मैनेजर नहीं, बल्कि हेड क्वार्टर का कम्प्यूटर करता था। इंडोनेशिया में वालमार्ट द्वारा उजाड़े गये दुकानदारों ने उसके मेगा मार्ट पर ही हमला बोल दिया था। उसके बाद कम्पनी को वहाँ से अपना बोरिया-बिस्तर लपेटकर भागना पड़ा। 27 नवंबर 2006 को वालमार्ट ने सुनील मित्तल की कम्पनी भारती इंटरप्राइजेज के साथ गठजोड़ किया था और उसने देश के विभिन्न शहरों में 100 खुदरा बिक्री खोलने की योजना बनायी थी। आज वालमार्ट के भारत में 9 राज्यों के 19 शहरों में 21 होलसेल स्टोर हैं। यह कम्पनी कुछ हजार नौकरियाँ देने का दावा तो करती है लेकिन रोजी-रोटी छीन कर लाखों लोगों को सड़क पर ला देती है।

दूसरी तरफ, फ्लिपकार्ट कम्पनी भी वालमार्ट के लिए लाल कालीन बिछा रही है। कहने के लिए फ्लिपकार्ट भारतीय कम्पनी है लेकिन इसके ज्यादातर शेयर विदेशी कम्पनियों के हैं, जिसमें टाइगर ग्लोबल मैनेजमेंट, सॉफ्टबैंक, माइक्रोसॉफ्ट कारपोरेशन, टेनसेट लिमिटेड आदि शामिल हैं। 2007 में इस कम्पनी को सचिन बंसल और बिन्नी बंसल ने महज चार लाख की पूँजी के साथ शुरू किया था, जिसका मकसद किताबें बेचने के लिए बेहतरीन जगह की व्यवस्था करना था। धीरे-धीरे उन्होंने किताबों के साथ-साथ रोजमर्रा की जरूरतों का व्यापार भी शुरू किया। मुनाफे में वृद्धि के चलते विदेशी निवेशकों का ध्यान कम्पनी की ओर आकर्षित हुआ, जिसके चलते 2017 तक इस कम्पनी में लगभग 96,600 करोड़ रुपये का निवेश हो गया था। इसके साथ-साथ यह भारत की ई-कॉमर्स (ऑनलाइन व्यापार) की सबसे बड़ी कम्पनी बनकर उभरी। आज कम्पनी की कीमत लगभग 1,38,000 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी है। देश भर में इस कम्पनी के लगभग तीन करोड़ से अधिक ग्राहक हैं, जिनको सामान भेजने के लिए इसके पास महज 6800 कर्मचारी हैं। यह कम्पनी बहुत कम कर्मचारियों को काम पर रखती है और लाखों छोटे दुकानदारों को धीरे-धीरे उजाड़कर अपना कारोबार फैलाती है।

मार्केट रिसर्च फर्म फोरेस्टर के अनुसार पिछले साल 1,42,800 करोड़ रुपये का ऑनलाइन कारोबार हुआ। रिसर्च कम्पनी मॉर्गन स्टैनली के अनुसार 2026 तक भारत में ऑनलाइन कारोबार 13,80,000 करोड़ रुपये तक पहुँच जाएगा यानी अगले 8 वर्षों में इसमें 9 से 10 गुना की बढ़ोतरी का अनुमान है। भारत में पूँजी लगाने के लिए विदेशी निवेशकों का रुझान बढ़ता ही जा रहा है। विदेशी निवेशकों ने भारत को एक नये उपभोक्ता बाजार के रूप में चिन्हित कर लिया है। भारत एक ऐसा बाजार बनता जा रहा है, जहाँ विदेशी कम्पनियाँ लगातार बढ़ती जा रही हैं। यहाँ पहले से ही चीनी कम्पनी अलीबाबा ग्रुप ने अपने पेटीएम, स्नैपडील, जोमैटो के जरिये भारतीय बाजार पर कब्जा कर रखा है। इसके साथ ही वालमार्ट जैसी दैत्याकार खुदरा कम्पनी बुलाने से देश के छोटे दुकानदारों का भविष्य अंधकार में है। अपने हितों पर हुए हमले के खिलाफ उन्हें अपनी आवाज बुलन्द करनी होगी।

--अजय गुप्ता

दिल्ली हाईकोर्ट ने श्रमिकों के वेतन वृद्धि को खारिज किया

दिल्ली हाईकोर्ट ने श्रमिकों का न्यूनतम वेतन बढ़ाने के दिल्ली सरकार के फैसले को खारिज करते हुए कहा कि 'जल्दी प्रयास और प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तों के उल्लंघन के कारण, दुर्भाग्यवश इस संशोधन को रोकना पड़ा' क्योंकि इससे संविधान का उल्लंघन हो रहा था। हालाँकि दिल्ली सरकार द्वारा तय की गयी न्यूनतम मजदूरी भी खुद सरकार के वेतन आयोग द्वारा एक परिवार के गुजारे के लिए तय की गयी आवश्यक न्यूनतम रकम के मुकाबले बहुत कम थी।

व्यापारियों, पेट्रोल पम्प मालिकों और रेस्टोरेंट मालिकों ने दिल्ली सरकार की तीन मार्च, 2017 की न्यूनतम वेतन अधिसूचना को खारिज करने की माँग की थी। व्यापारियों का कहना है कि समिति ने उनका पक्ष जाने बिना ही फैसला ले लिया।

हाईकोर्ट का यह भी कहना था कि 'दिल्ली में न्यूनतम वेतन की दर को इसलिए नहीं बढ़ाया जा सकता क्योंकि दिल्ली में वेतन दर पड़ोसी राज्यों से ज्यादा है।'

हाईकोर्ट के आदेश का एक ही अर्थ है कि पूँजीवादी समाज में मालिकों की मर्जी से किया गया फैसला ही प्राकृतिक न्याय और संविधान सम्मत है। क्योंकि, श्रमिकों की श्रम शक्ति की कीमत के अलावा क्या किसी और वस्तु/सेवा के बाजार मूल्य में वृद्धि के पूँजीपतियों के फैसले को इस आधार पर रद्द किया गया है कि उन वस्तुओं/सेवाओं के खरीदारों की सहमति मूल्य तय करते हुए नहीं ली गयी थी? क्या पेट्रोल के दाम बढ़ाने का, स्कूल-अस्पताल की फीस बढ़ाने का, खाद्य पदार्थों से दवाइयों तक की कीमतें बढ़ाने का फैसला कभी आम मेहनतकश लोगों की राय लेकर होता है? लेकिन श्रम शक्ति का न्यूनतम मूल्य निर्धारित करते हुए मालिकों की राय न लेना अप्राकृतिक और संविधान का उल्लंघन है!

फिर, कितनी हास्यास्पद बात है कि पड़ोसी राज्यों में मजदूरी कम है तो दिल्ली में भी कम होनी चाहिए? इसके बजाय पड़ोसी राज्यों को भी मजदूरी बढ़ाने के लिए क्यों नहीं कहा जाना चाहिए? क्या और किसी मामले में ऐसा कुतर्क सुना गया है?

पर सच यही है कि मालिकों और मजदूरों के बीच वर्ग विभाजित समाज में सत्ता के सब अंग-- संसद से लेकर पुलिस-न्यायालय तक सब मालिकों के हितों की सुरक्षा में ही कार्य करते हैं। वही उनके लिए 'न्याय' की परिभाषा है। उनसे मेहनतकश जनता के लिए इंसाफ की उम्मीद ही भ्रम है।

सवाल तो यह भी पूछा जाना चाहिए कि जजों से लेकर सांसद-मंत्री और अधिकारी अपने घरों पर जिन श्रमिकों को रखते हैं क्या उन्हें न्यूनतम मजदूरी देते हैं? क्या वे बाल श्रमिकों का शोषण नहीं करते हैं?

दिल्ली सरकार ने जो न्यूनतम मजदूरी तय की थी वह भी गुजारे के खर्च से कम ही था। भाजपाइयों और दिल्ली के नियोक्ताओं को वह भी रास नहीं आया। मजदूरों का संगठन कमजोर होने के चलते उनकी सामूहिक मोल-भाव की शक्ति नहीं रही। ऐसे में सरकार और पूँजीपति उन्हें गुलामों से भी बदतर हालत में रखते हैं और उनके खून-पसीने को मुनाफे में बदल रहे हैं।

गौरतलब है कि जिन जज महोदया ने यह फैसला दिया है, वे अब जम्मू और कश्मीर उच्च न्यायालय की प्रमुख न्यायाधीश बनकर जा रही हैं।

--मुकेश असीम

सब बिखर चुका था
भेड़ियों ने मनुष्यों की दुनिया को
निशाना बनाया था
हम जगह-जगह स्थानान्तरित होते रहे
कोई उपाय ढूँढते रहे
गये प्राचीन गुफाओं में
ढूँढे पुरखों के मूल्यवान खजानों को
उनमें से मिल गयी मैत्री
मैत्री को लेकर हम आये फिर से यहाँ
बिखरी पड़ी दुनिया में
और भेड़िये डर कर भाग गये
जो कुछ तबाह हुआ था
उसको ठीक करने की
ताकत हमने फिर से पा ली थी
हमने सलीके से सब कुछ ठीक कर
दुनिया को रहने लायक बनाया

--फारूक शाह

गौरी लंकेश की हत्या का खुलासा

5 सितम्बर 2017 को बेंगलुरू की जानी-मानी पत्रकार गौरी लंकेश की गोली मारकर हत्या कर दी गयी थीं। वे बेंगलुरू से प्रकाशित होनेवाली "लंकेश" पत्रिका की सम्पादक थीं। इस पत्रिका के प्रकाशन का काम उनके पिता लंकेश ने शुरू किया था। उनकी मृत्यु के बाद इस पत्रिका के संचालन का काम गौरी लंकेश ने अपने हाथों में ले लिया। इस काम के अलावा वे कई पत्र-पत्रिकाओं में कॉलम भी लिखती थीं और सच्चाई को बेबाक तरीके से रखती थी। 55 वर्षीय यह वरिष्ठ पत्रकार हिन्दुत्वादी दक्षिणपंथी विचारधारा की कड़ी आलोचक थीं। पत्रिका का संचालन वह स्वयं करती थीं। पत्रिका का खर्च निकालने के लिए वह किसी भी तरह का विज्ञापन नहीं लेती थीं। हत्या से कुछ ही समय पहले उन्होंने राणा अय्यूब द्वारा लिखी किताब 'गुजरात फाइल्स' का अनुवाद कन्नड़ में किया, जो गुजरात दंगों पर केन्द्रित है। गौरी लंकेश की हत्या का एक ही कारण है, वह है उनकी बेबाक रिपोर्टिंग और देश भर में हिन्दुत्ववादी राजनीति का विरोध। इसके चलते वह काफी समय से कुछ लोगों के निशाने पर थीं। उन पर कुछ लोगों ने ऐसा न करने के लिए दबाव डालने की कोशिश भी की थी। लेकिन वह अपने विचारों पर दृढ़तापूर्वक डटी रहीं।

हत्या की जाँच-पड़ताल के लिए छह महीने बाद एक विशेष जाँच दल की नियुक्ति की गयी। जाँच की रिपोर्ट से यह बात स्पष्ट है कि गौरी की हत्या कोई मामूली घटना नहीं थी बल्कि एक सुनियोजित हत्या थी जिसकी तैयारी तकरीबन एक साल से चल रही थी। गौरी के घर के आस-पास का सन्नाटा हत्यारों के लिए फायदेमन्द साबित हुआ जिसकी वजह से घटना का एक भी प्रत्यक्षदर्शी नहीं मिला। विशेष जाँच दल ने पहले आरोपी नवीन कुमार को पिस्टल की अवैध गोलियाँ रखने के आरोप में गिरफ्तार किया। जाँच-पड़ताल के बाद उसके गौरी लंकेश हत्याकाण्ड में संलिप्त होने की पुष्टि हुई। जाँच दल ने छठे आरोपी के रूप में श्री राम सेना के सक्रिय कार्यकर्ता परशुराम वाघमरे को गोली मारने के आरोप में गिरफ्तार किया। परशुराम वाघमरे ने स्वयं कबूल किया कि उसने ही गौरी के ऊपर गोली चलाई थी। उसका कहना है कि यह सब उसने अपने धर्म को बचाने के लिए किया। यदि उसे पता होता कि उसे लंकेश को गोली मारने को कहा जा रहा है तो वह ऐसा नहीं करता। परशुराम वाघमरे श्री राम सेना का सदस्य है इसलिए विशेष जाँच दल ने विजयपुरा जिलाध्यक्ष राकेश मथ से पूछताछ की। श्री राम सेना के संस्थापक अध्यक्ष प्रमोद मुतालिक का कहना है कि वाघमरे और श्री राम सेना का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका कहना है वाघमरे आरएसएस का आदमी है।

यह इस तरह की कोई पहली और आखिरी घटना नहीं थी। यदि हम इतिहास के पन्नों को पलटकर देखें तो हम पायेंगे कि 1992 के बाद से ऐसे 48 पत्रकारों की हत्याएँ हो चुकी हैं। इनमें तीन हत्याएँ तो सिर्फ इसी साल हुई हैं। ऐसी घटनाएँ दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं। जो भी इन हिन्दुत्ववादियों का विरोध करता है ये उसका यही हश्र करना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि कोई भी उनकी मनमानी का विरोध न करे। जो भी उनका विरोध करे या उनके रास्ते की बाधा बने, उसके मन में डर बिठा दिया जाये।

संविधान के मुताबिक भारत एक लोकतांत्रिक और धर्मनिरपेक्ष देश है। परन्तु यह कैसा लोकतंत्र है, जहाँ अपने विचारों को अभिव्यक्त करने पर गोली मार दी जाती है। कहा जाता है कि मीडिया समाज का दर्पण होता है। आज यह दर्पण बेहद भद्दा हो चुका है। गौरी लंकेश ऐसी शख्सियत थीं जिन्होंने इस बिकाऊ और बाजारू मीडिया से हटकर एक ऐसी मीडिया का संचालन किया जो समाज को गुमराह करने वाली ताकतों का विरोध कर सके। उन्होंने ऐसे कई संगठनों के खिलाफ लिखा जो अफवाह फैलाने और दंगे भड़काने का काम कर रहे थे। यह केवल गौरी लंकेश की हत्या नहीं, जनवाद की हत्या है। जब देश में ऐसे लोगों की हत्याएँ करवायी जा रही हों जो जनता के पक्ष में लिखते और बोलते हों, तब समझ लेना चाहिए कि देश की बागडोर ऐसे लोगों के हाथों में आ चुकी है जिन्हें सच से डर लगता है। उन्हें डर लगता है उन लोगों से जो उनके द्वारा अबाध लूट-खसोट का खुलासा करने के लिए जनता के बीच काम करते हैं। लेकिन देश और दुनिया का इतिहास गवाह है कि दमन और खून-खराबे से सच की आवाज नहीं दबी। आज भी सच कहने का जोखिम उठाने वाले पत्रकारों और लेखकों की कमी नहीं है।

--ईशान

नोटबन्दी में जमा हुए 745 करोड़ की हकीकत

22 जून 2018 को कुछ अखबारों में खबर आयी कि अहमदाबाद जिला सहकारी बैंक में नोटबन्दी के पहले पाँच दिनों के दौरान 745 करोड़ रूपये जमा हुए थे। भाजपा अध्यक्ष अमित शाह इस बैंक के पूर्व चेयरमैन और तत्कालीन डायरेक्टर थे। बाद में इस खबर को दबा दिया गया।

मामले का जुड़ाव अमित शाह से होने के कारण हमेशा की तरह परम्परागत मीडिया तो चुप हो गया लेकिन सोशल मीडिया पर इसकी खोजबीन और चर्चाएँ तेज हो गयीं। मामले को शान्त करने और भ्रष्टाचार के प्रति सचेत रुख दिखाने के लिए सरकार ने मामले की जाँच "नाबार्ड" को सौंप दी।

नाबार्ड ने अपनी रिपोर्ट में बड़ी बेशर्मी से पूरे मामले पर लीपापोती करते हुए खातों के औसत के आधार पर एक बेहूदा निष्कर्ष निकाल दिया। हालाँकि उसके निष्कर्ष ने और जाँच में सामने आये तथ्यों ने यह भी दिखा दिया कि 745 करोड़ रूपये जमा होने का मामला तो जल में तैरते शिलाखण्ड की केवल चोटी है और इस देश में दो-चार लोग ऐसे हैं जिनसे मीडिया, जाँच एजेंसियाँ, अदालतें, सब डरते हैं, उनसे बनाकर चलते हैं।

पहले, मामले की जाँच में सामने आये तथ्यों और आरटीआई कार्यकर्ता मनोरंजन आर रॉय की आरटीआई के जवाब में सामने आये तथ्यों को लेते हैं। इस दौरान 1.6 लाख ग्राहकों ने अपने पुराने नोट बैंक में जमा कराये थे जिनमें 98.6 फीसदी लोगों ने 2.5 लाख से कम रकम जमा करायी थी। लेकिन बैंक ने यह नहीं बताया कि बाकी के 1.4 फीसदी लोगों ने कितनी रकम जमा करायी, कहीं बाकी बची 60 फीसदी रकम उन्होंने ही तो जमा नहीं करायी।

नावार्ड का तर्क है कि प्रति ग्राहक जमा औसत 46,795 रूपये है जो बाकी सहकारी बैंकों के औसत से कम है। औसत बहुत भ्रामक होता है। जब भारत की प्रतिव्यक्ति औसत आय निकालते हैं तो उसमें अरबपति मुकेश अम्बानी की आय और सड़क पर भीख माँगने वाले की आय बरकरार हो जाती है।

नोटबन्दी के दौरान प्रधानमंत्री ने कहा था कि सहकारी बैंकों में काला धन जमा हो रहा है और 14 नवम्बर के बाद इन बैंकों में धन जमा कराने पर रोक लगा दी थी। उन्होंने वादा किया था कि जिन खातों में 2.5 लाख से ज्यादा जमा होगा उनकी जाँच करायी जायेगी। आज जब इतने ज्यादा तथ्य सामने आ रहे हैं तो वे खातों की जाँच क्यों नहीं करा रहे हैं। क्या वे भी अमितशाह से डरते हैं या जाँच का वादा कोई जुमला था।

इससे भी ज्यादा गम्भीर बात यह है कि इस खबर को अधिकांश अखबारों ने नहीं छापा। क्या मीडिया का बड़ा हिस्सा इतना बुजदिल हो गया है कि कभी गुजरात सूबाबदर रहे अमितशाह से डर गया। हालाँकि यह बात कहीं नहीं आयी थी कि 745 करोड़ रूपये अमितशाह के हैं। मीडिया वाले उस बैंक में घोटाले की खबर छापने से भी डर गये, जिसका डायरेक्टर अमितशाह हैं। मीड़िया जैसी ही हालत जाँच एजेंसियों की है। गुजरात दंगों में 2000 लोगों के कत्ल से लेकर गुजरात के गृहमंत्री का कत्ल, शाहबुद्दीन का कत्ल इशरत जहाँ का कत्ल, जस्टिस लोया का कत्ल जैसे न जाने कितने मामलों में जाँच हुई लेकिन नतीजा केवल "क्लीन चिट"। लगता है अमितशाह और क्लीनचिट का सीधा रिश्ता है।

नोटबन्दी देश की जनता के खिलाफ किया गया व्यापक और जघन्य अपराध तथा इतना बड़ा घोटाला था कि लाख पर्देदारी के बावजूद इसके स्याह दाग-धब्बे रोज-ब-रोज सामने आ रहे हैं। नाबार्ड की जाँच रिपोर्ट से लगता है कि सरकार को एक ओर जाँच बैठानी पड़ेगी जो नाबार्ड को "क्लीन चिट" दे सके क्योंकि अब वह भी अमित शाह से जुड़ गया है। नाबार्ड की इस लीपापोती की जाँच होनी चाहिए। जब जाँच एजेन्सियाँ और मीडिया भरोसे के काबिल ना हों और डरपोक हों तो जनता का हक बनता है कि वह जाँच का काम अपने हाथ में ले ले।

खुले तुम्हारे लिए हृदय के द्वार
अपरिचित पास आओ

आँखों में सशंक जिज्ञासा
मिक्ति कहाँ, है अभी कुहासा
जहाँ खड़े हैं, पाँव जड़े हैं
स्तम्भ शेष भय की परिभाषा
हिलो-मिलो फिर एक डाल के
खिलो फूल-से, मत अलगाओ

सबमें अपनेपन की माया
अपने पन में जीवन आया

--त्रिलोचन

गहराता कश्मीर संकट

एक पुरानी अरबी कहावत है कि बादल वादे की तरह होते हैं और बारिश उनका पूरा होना। कश्मीर की सियासत पर बादल तो बहुत छाये लेकिन बारिश का इन्तजार करती आवाम आसमान को ही ताकती रह गयी। 19 जून को भाजपा-पीडपी का अपवित्र गठबन्धन टूट जाने के बाद जम्हूरियत के बादलों के रहे-सहे टुकड़ों ने भी इस अशान्त राज्य से मुँह फेर लिया। सियासत में पहले आओ पहले पाओ का लाभ उठाते हुए भाजपा ने गठबन्धन से हाथ खींच लिए और महबूबा मुफ्ती के सियासी कोकून को मसल कर रख दिया।

तीन साल पहले जम्मू कश्मीर राज्य में हुए चुनावों ने राज्य की जो भू-राजनीतिक तस्वीर बनायी थी उसके मुताबिक मुस्लिम बहुल कश्मीर घाटी और आसपास के क्षेत्र से भाजपा के राष्ट्रवाद के घोर विरोध पर जनता ने मुफ्ती सईद की पीडीपी को स्पष्ट बहुमत दिया जबकि दूसरी तरफ हिन्दू बहुल जम्मू क्षेत्र में राष्ट्रवाद के समर्थन में भाजपा को स्पष्ट बहुमत सौंप दिया। भाजपा इसी कोशिश में लगी थी कि जम्मू-कश्मीर राज्य जम्मू और कश्मीर में बँट जाय और यही हुआ।

गठबन्धन की समाप्ति के बाद फिलहाल राज्य में राष्ट्रपति शासन कायम है और इसे इस तरह समझने में कोई मुश्किल नहीं कि अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्र का भाजपा शासन राज्य में स्थापित हो चुका है। कश्मीर के मसले पर भाजपा शुरू से ही सैनिक ताकत के जोर पर अमल करती आयी है। गठबन्धन की समाप्ति के बाद इसे और मजबूती से लागू किया जा रहा है।

गठबन्धन की समाप्ति से 5 दिन पहले यानी 14 जून 2018 को मानवाधिकार के लिए संयुक्त राष्ट्र के हाई कमीश्नर कार्यालय ने अपनी एक रिपोर्ट जारी की जिसका शीर्षक था ''कश्मीर में मानवाधिकार की स्थिति पर एक रिपोर्ट : भारतीय राज्य के जम्मू और कश्मीर में जून 2016 से अप्रेल 2018 के बीच विकास और आजाद जम्मू और कश्मीर तथा गिलगिट-बाल्टिस्तान में मानवाधिकार की सामान्य स्थिति''। रिपोर्ट के प्रकाशन के तत्काल बाद ही भारतीय सरकार ने रिपोर्ट को अस्वीकर कर दिया। दिलचस्प बात यह है कि सरकार ने संयुक्त राष्ट्र की मानवाधिकार समिति को स्वतंत्र रूप से मानवाधिकारों के मामलों की जाँच के लिए अनुमति ही नहीं दी। आखिकरार रिपोर्ट को सरकारी बयानों, दस्तावेजों, मीडिया रिपोर्टों और नागरिक संगठनों के दस्तावेजों के आधार पर तैयार किया गया।

रिपोर्ट कहती है कि ''मानवाधिकारों के उल्लंघनों में दंडमुक्ति और न्याय पाने में कमी भारतीय राज्य के जम्मू और कश्मीर में प्रमुख मानवाधिकार चुनौतियाँ हैं। राज्य में आर्म्ड फोर्स (जम्मू और कश्मीर) स्पेशल पावर एक्ट, 1990 (आफ्स्पा) और जम्मू एंड कश्मीर पब्लिक सेफ्टी एक्ट, 1978 (पीएसए) जैसे विशेष कानूनों ने एक ऐसा ढाँचा निर्मित किया है जिसने सामान्य कानून को बाधिक किया है, जवाबदेही को रोका है और मानवाधिकार उल्लंघन के पीड़ितों के लिए सुधार के अधिकार को खतरे में डाला है।'' (रिपोर्ट पेज नम्बर 4-5) रिपोर्ट बताती है कि मार्च 2016 से अगस्त 2017 के बीच पीएसए के तहत 1000 से ज्यादा लोगों को हिरासत में लिया जा चुका है जिसमें बच्चे भी शामिल हैं। मध्य जुलाई 2016 से मार्च 2018 तक सुरक्षा बलों के हाथों 130 से 145 सामान्य लोगों की मौतें हो चुकी हैं। जम्मू कश्मीर की पूर्व सरकार ने 8 जुलाई 2016 से 27 फरवरी 2017 तक 51 लोगों की मौत और 9042 लोगों के घायल होने की जानकारी दी थी। हालाँकि इससे पहले सरकार ने ही 2016 में 78 लोगों, जिनमें 2 पुलिसकर्मी भी शामिल हैं, की मौत की जानकारी दी थी।

जम्मू कश्मीर में लम्बे समय से आफ्स्पा कानून को हटाये जाने की माँग की जाती रही है। यूनिवर्सल पिरियोडिक रिव्यू 2017 (यूपीआर) के तीसरे चक्र में भारत सरकार ने स्वीकार किया था कि आफ्स्पा के बारे में सरकार की चिन्ता बढ़ती जा रही है और इस विषय में गम्भीर राजनीतिक विचार-विमर्श जारी था कि आफ्स्पा को हटा दिया जाये या इसे जारी रखने के अधिकार को मंजूरी दे दी जाये। लेकिन मार्च 2018 में गृहराज्य मंत्री हंसराज गंगाराम अहीर ने कहा कि आफ्स्पा को हटाने के सम्बन्ध में कोई प्रस्ताव नहीं था। हालाँकि आफ्स्पा 1958 को प्रभावकारी रूप से लागू करने और मानवीय बनाने का प्रस्ताव विचाराधीन है।

जबकि रिपोर्ट बताती है कि आफ्स्पा 1990 की धारा 7 सुरक्षा बलों पर तब तक किसी कार्रवाही को निषिद्ध करती है जब तक कि भारत सरकार कोई पूर्वअनुमति या कार्रवाई की मंजूरी न दे। पिछले 28 सालों से जब से आफ्स्पा लगा है, केन्द्र सरकार ने एक भी मामले में कार्यवाही की मंजूरी नहीं दी है। इसके बाद भी भारत सरकार मानवाधिकारों के उल्लंघन के ममालों में जीरो टॉलरेन्स का दावा करती है। 1 जनवरी 2018 को केन्द्रीय रक्षामंत्री ने राज्य सभा में बताया कि आफ्स्पा 1990 में लागू होने के बाद से जम्मू कश्मीर की सरकार से कार्रवाई करने की 50 दरखास्तें प्राप्त हुईं जिनमें से 47 को खारिज कर दिया गया और 3 मामलों पर फैसला आना अभी बाकी है।

रिपोर्ट को खारिज करना भारतीय सरकार के कश्मीर के प्रति रवैये को दर्शाता है। मानव के अधिकारों को कुचल कर शान्ति कभी कायम नहीं की जा सकती। कश्मीर की समस्या कानून व्यवस्था की समस्या नहीं बल्कि एक पेचीदा राजनीतिक समस्या है। भारतीय राज्य आज कश्मीर में जो संकीर्ण और दमनात्मक तौर-तरीके अपना रही है, आने वाले समय में देश को उसकी भारी कीमत चुकानी होगी।

--पारिजात

बैंकों की बिगड़ती हालत

कुछ महीने पहले रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया (आरबीआई) ने 11 सरकारी बैंकों को त्वरित सुधारात्मक कार्रवाई (पीसीए) सूची में डाला था क्योंकि इन बैंकों की गैर-निष्पादित सम्पदा (एनपीए) लगातार बढ़ती जा रही है, यानी इन बैंकों के बड़े कर्जों के वापस आने की रफ्तार लगभग बन्द हो चुकी है या न के बराबर है। पीसीए के तहत इन बैंकों पर लोन देने पर रोक लगा दी गयी है। ये बैंक डूबने के कगार पर हैं। लोन न देने की सूची में इलाहबाद बैंक, यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया, कॉरपोरेशन बैंक, आईडीबीआई बैंक, यूको बैंक, बैंक ऑफ इण्डिया, सेन्ट्रल बैंक ऑफ इण्डिया, इंडियन ओवरसीज बैंक, ओरियंटल बैंक ऑफ कोमर्स, बैंक ऑफ महाराष्ट्र और देना बैंक शामिल हैं। अभी इन बैंकों की हालत ठीक नहीं हुई कि आरबीआई अन्य 6 बैंकों को इस सूची में शामिल करने जा रही है जिनमें बैंक ऑफ इण्डिया और सिंडिकेट बैंक के साथ देश के दूसरे सबसे बड़े सार्वजनिक बैंक पीएनबी का भी नाम शामिल है। आरबीआई के अनुसार इन सभी में से केवल चार सरकारी बैंकों का ही घाटा 12,154.21 करोड़ रुपये तक पहुँच गया है, जिसमें कैनरा बैंक का 4,860 करोड़, ओरियन्टल बैंक का 1,650 करोड़, यूको बैंक का 2,134 करोड़ और इलाहबाद बैंक का 3,509 करोड़ रुपये है। सरकार की योजना थी कि छोटे बैंकों के ब्याज-मुक्त कर्ज बड़े बैंकों को बेच दिया जाये। लेकिन हालत यह है कि बड़े बैंक अपना कर्ज वसूलने में भी असमर्थ हैं और खुद ही डूबने के कगार पर हैं। ऐसे में छोटे बैंकों को बन्द करना पड़ सकता है।

आरबीआई 44 बैंकों के 292 मामलों की सीबीआई जाँच करवा रही है, जिसमें यूको बैंक के एमडी, इलाहबाद बैंक के सीईओ और पीएनबी बैंक के 10 अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई हुई है। पहले से ही बाँटे गये कर्जों की वसूली न होने के बावजूद इन्होंने बड़े-बड़े पूँजीपतियों को एक सीमा से ज्यादा कर्ज बाँटे हैं। इसके चलते हाल ही में पीएनबी में बड़ा घोटाला हुआ है। मार्च 2018 में कर्ज को वसूलने की दर 6.7 फीसदी रही है जो पिछले 55 सालों में जमा रुपये की सबसे कम दर है।

एनपीए में वह कर्ज डाला जाता है जिसकी वसूली की उम्मीद न के बराबर हो। वसूली न होने वाले कर्ज ज्यादातर छोटे-बड़े व्यापारियों, पूँजीपतियों और अमीर किसानों के हैं। कांग्रेस सरकार के समय में एनपीए 2.25 लाख करोड़ रुपये था जो अब भाजपा सरकार के समय में बढ़कर 9 लाख करोड़ रुपये हो गया है। एनपीए खाते में बढ़ते कर्ज के मामले में भाजपा सरकार की रफ्तार कांग्रेस सरकार के मुकाबले 4 गुना ज्यादा है। इसका मतलब वर्तमान सरकार ने ऐसे लोगों को ज्यादा कर्जे बाँटें हैं, जिनसे वसूली की आशा कम है। दरअसल सरकार चाहती है कि देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बेशुमार और बेलगाम मुनाफा हो। सरकार के ऐसे रवैये के चलते बैंकिंग प्रणाली तबाह होने की स्थिति में आ गयी है।

अब इन बैंकों के कर्जे की भरपाई के लिए ऐसे कानून बनाये गये हैं जिनसे जनता की गाढ़ी कमाई बैंकों के पास और तेजी से आ सके, जैसे-- खाता धारक द्वारा एटीएम से एक महीने में तीन बार से ज्यादा पैसे निकालने के बाद या दूसरे बैंक के एटीएम से पैसे निकालने पर, हर निकासी पर 23 रुपये काट लिये जाते हैं। खाते में तय राशि से कम रुपये रखने पर जुर्माना वसूल लिया जाता है। ऐसे कानून खाते में जमा लोगों के रुपयों को लूटने की साजिश है। कई बैंकों ने ऐसे जुर्माने के जरिये अरबों रुपये की वसूली की है।

कर्ज की वसूली न होने का असर बैंक कर्मियों पर भी पड़ रहा है। उन पर बीमा पॉलिसी बेचने और म्यूचुअल फंडों में रुपये जमा करने के लिए दबाव बनाया जा रहा है। उनके काम के घंटों को बढ़ाया जा रहा है। बैंकों की बिगड़ती हालत का असर उन बेरोजगार नौजवानों पर पड़ रहा है जो बैंकों में नौकरी करने के सपने देख रहे हैं, क्योंकि बैंक कर्मियों की भर्तियाँ लगभग बन्द हैं।

बैंकों की बिगड़ती हालत का एक मुख्य कारण बैंकों में बढ़ता भ्रष्टाचार है। एक ब्योरे के मुताबिक बैंकों में 28 बड़े घोटाले हो चुके हैं जिनके चलते बैंकों को 36,000 करोड़ रुपया प्रति घोटाला के हिसाब से नुकसान हुआ है। पिछले कुछ सालों में अचानक घोटालों की बाढ़ सी आ गयी है। इससे बैंकों की छवि खराब हो गयी है। दूसरा कारण, राजनीतिक पहुँच के चलते बिना सही छानबीन के कर्ज देना है। ऐसे कर्जदारों का बैंक से रुपये लेकर देश से भागने का एक सिलसिला चल पड़ा है जो रुकने का नाम नहीं ले रहा है।

सरकार फाइनेंशियल रेजोल्युशन एंड डिपॉजिट इंश्योरेंस के नाम से एक कानून ला रही थी। लेकिन जनता के भारी दबाव के कारण इसे वापस लेना पड़ा। इस कानून के अनुसार सार्वजनिक बैंक के दिवालिया होने या डूब जाने की स्थिति में, बैंक तय करेगा कि खाताधारकों के जमा धन में से कितना वापस करना है और कितना नहीं। पूँजीपतियों द्वारा कर्ज वापस न करने और बैंक के घाटे में जाने की कीमत आम जनता को चुकानी पड़ रही है। उनका धन सरकार इन बैंकों को उबारने के नाम पर बैंकों को दे रही है। इसे ही कहते हैं-- मुनाफा निजी, घाटा सार्वजनिक।

--संजीव तोमर

बुराड़ी में 11 लोगों की सामूहिक आत्महत्या

2 जुलाई 2018 को दिल्ली के बुराड़ी क्षेत्र में एक ही परिवार के ग्यारह लोगों की सामूहिक आत्महत्या की घटना ने सबको स्तब्ध कर दिया। मोक्ष या स्वर्ग प्राप्ति के लिए ये कोई पहली या आखिरी घटना नहीं है। इससे पहले राजस्थान के कोटा में एक ही परिवार के तीन सदस्यों ने ट्रेन के सामने कूदकर जान दे दी। मार्च 2013 को सवाई माधोपुर गंगानगर में सायनायड के लड्डू खाकर एक परिवार ने सामूहिक आत्महत्या की। 22 जून 2017 को नयी दिल्ली में अंधविश्वास के चलते पिता ने अपनी मासूम बेटी के कान काट लिए। तांत्रिकों द्वारा नर-बलि की घटनाएँ अक्सर खबरों की सुर्खी बनती हैं। घटनाओं का यह अन्तहीन सिलसिला झकझोर देने वाला है।

स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष या भौतिक जीवन के दुखों से मुक्ति के लिए होने वाली ये आत्महत्याएँ एक ही दिन में घटित नहीं होती, बल्कि सालों-साल ब्रेन वाश किये जाने का परिणाम होती हैं।

ऐसी घटना की किसी दोस्त, रिश्तेदार या पड़ोसी को जानकारी न होना भी हमारे समाज के सामूहिक ढाँचे के बिखरने का सूचक है। सूचना तकनीक ने एक ऐसा आभासी समाज बना दिया, जहाँ इनसान भीड़ में भी अकेला रहता है।

विडम्बना यह है कि विज्ञान द्वारा चलाई जा रही ट्रेनों, बसों और हवाई अड्डों में साथ ही सार्वजनिक स्थानों पर तांत्रिक बाबाओं के असंख्य इश्तहार चिपके नजर आते हैं जिनमें वे तंत्र-मन्त्र और काले जादू से कर्ज-मर्ज, शिक्षा-रोजगार, शादी-विवाह और भूत-प्रेत जैसी समस्त समस्याओं का समाधान करने का दावा करते हैं, जो सम्भव ही नहीं है। समाज में रूढ़िवादी अंधविश्वास का प्रचलन अभी तक जारी है। भूत-प्रेत का साया या अशुभ ग्रहों को दूर करने के लिए बच्चियों की शादी कुत्तों से करना, चर्म रोगों को ठीक करने के नाम पर भोजन की झूठन पर लेटना जैसी अनगिनत कुप्रथाओं का चलन है।

इतना ही नहीं अस्पताल, जहाँ पूरी वैज्ञानिक पद्धति से मरीजों का इलाज होता है, उसमें भी मन्नत मानने के लिए एक मन्दिर, पुलिस थाने जहाँ अपराधियों के साथ-साथ निर्दोष लोगों को भी टार्चर किया जाता है वहाँ भी भगवान का मन्दिर, पर्यावरण शुद्धि के लिए यज्ञ-हवन करना, क्या विज्ञान सम्मत है। मुख्यधारा की मीडिया चैनलों पर दिन-रात हनुमान-शिव लौकेटों और अल्लाह लौकेटों को पहनने से मानव जीवन के तमाम दुखों के स्वतः दूर हो जाने का दावा किया जाता है। खास बात यह है कि इनके अंधविश्वासी दावों को प्रमाणित करने वाले समझदार पढ़े-लिखे लोग, हीरो-हिरोइने और क्रिकेटर होते हैं जिन्हें युवा पीढ़ी अपना आदर्श मानती है। कितने ही बाबा आस्था-अंधविश्वास के सहारे बड़े-बड़े उद्योगपति बन गये हैं। अनेकों हाइटैक बाबाओं को इन्हीं चैनलों के जरिये अंधविश्वास और तर्कहीनता को स्थापित करने की खुली छूट है। इच्छाधारी नाग-नागिन और देवी-देवताओं के चमत्कारों से ओत-प्रोत तथ्यहीन टीवी सीरियलों के द्वारा जन मानस में अंधविश्वास के प्रति आस्था पैदा की जा रही है। यानी घर से लेकर गाँव, शहर, समाज, सरकार और शमशान तक अंधविश्वास और पाखंड का साम्राज्य कायम है।

सबसे बड़ा सवाल है कि आज जब विज्ञान ने ऊँचाइयों के शिखर पर पहुँचकर अंधविश्वास की जमीन को खत्म कर दिया है, फिर भी नित-नये भगवान कैसे पैदा होते जा रहे हैं? ये भगवान लोगों को तर्कहीनता, अंधविश्वास और आस्था के जाल में कैसे फँसा ले रहे हैं?

सीधा सा जवाब है, पूँजीवादी शोषण को बढ़ाने और कायम रखने के लिए पूँजीवादी व्यवस्था के संचालक जनता को कूपमंडूकता, अंधविश्वास और आस्था की दलदल से नहीं निकलने देना चाहते। यदि वे चाहते तो सभी तरह की पाखंडपूर्ण गतिविधियों पर सख्ती से रोक लगाते। इन्हें बढ़ावा देने वाले सभी तांत्रिकों, बाबाओं, सैलिब्रिटी पर कार्रवाई करते जबकि ऐसे सभी लोगों को सरकार सम्मानित करती है। मध्यप्रदेश की सरकार ने वोटों की फसल काटने के लिए पाँच साधुओं को राज्य मंत्री का दर्जा दे दिया है। काल्पनिक स्वर्ग व मोक्ष को पाने के लिए घर-परिवार और सांसारिक सुख को त्यागकर साधना करने वाले योगी महात्मा अब मंत्री, मुख्यमंत्री बनकर राजनीति के सांसारिक स्वर्ग में डूबकर स्वर्ग का सुख भोग रहे हैं।

तर्कशीलता और वैज्ञानिकता लोकतंत्र का आधार है। हमारे संविधान में इन्हीं मूल्यों को स्थापित करने की और अंधविश्वास को देश के विकास में बाधक मानते हुए इसे समाप्त करने की संकल्पना है। जिस देश में लोकतंत्र के प्रहरी वर्षा कराने के लिए मेढक-मेढकी की शादी कराते हों, पर्यावरण की शुद्धि के लिए यज्ञ कराते हों रामायण की सीता को टेस्ट ट्यूब बेबी बताते हों लाखों वर्ष पहले भारत में इंटरनेट और सेटेलाइट की उपलब्धता का दावा करते हों, तो क्या इसे संविधान सम्मत माना जा सकता है। इतना ही नहीं, देश के बड़े वैज्ञानिकों की सभा में देश के प्रधानमंत्री ने

बताया कि हमारे देश में इतने महान प्लास्टिक सर्जन थे, जिन्होंने आदमी के धड़ पर हाथी का सिर रखकर उसे जोड़ दिया। इतने बड़े मिथक को विज्ञान सम्मत सुनकर सारे वैज्ञानिकों की सभा सिर झुकाये फर्श कुरेदती रही। एक भी वैज्ञानिक में इतना साहस नहीं था, जो खड़ा होकर प्रधानमंत्री की इस अवैज्ञानिकता का विरोध कर सके। ऐसे में वैज्ञानिक चिन्तन और लोकतंत्र का क्या होगा, यह चिन्ता का विषय है।

भारत से भी पिछड़े, मध्ययुगीन यूरोप में चर्च के अंधविश्वासों के खिलाफ महान वैज्ञानिक ब्रुनों ने आवाज बुलन्द की थी। उन्हें जिन्दा जला दिया गया था। गैलेलियो को धर्म विरुद्ध, विज्ञान सम्मत बात कहने के लिए आजीवन प्रताड़ित किया गया। लेकिन वहाँ आस्था और अंधविश्वास के खिलाफ लड़ाई जारी रही। इसीलिए यूरोप का कायाकल्प हुआ, विज्ञान का प्रकाश फैला और वहाँ वैचारिक क्रान्ति शुरू हुई।

सच्चाई यह है कि हमारे देश में विज्ञान तो आया, लेकिन 70 वर्षों बाद भी वैज्ञानिक नजरिया विकसित नहीं हो सका। यहाँ विज्ञान सिर्फ रटा जाता है। हमारी सोच को तर्कशील, वैज्ञानिक नहीं बनाया जाता। इसी का परिणाम है कि हमारे सैटेलाइट दागने वाले वैज्ञानिक भी उसे छोड़ने से पहले नारियल फोड़ते हैं। एक विज्ञान का प्रोफेसर जो कक्षा में चन्द्रग्रहण और सूर्य ग्रहण को एक विज्ञान सम्मत खगोलीय घटना पर बताता है, वही वास्तविक ग्रहण होने पर हवन, पूजा, दान, दक्षिणा देकर ग्रह दोष से मुक्त होता है।

आज राष्ट्रवाद के नाम पर आस्था और अंधविश्वास के मुद्दे उछाले जा रहे हैं। जो समाज को पीछे की ओर ले जा रहे हैं। इस बुराई को मिटाने के लिए हर चीज पर प्रश्न उठाने, आलोचना करने और तथ्य के आधार पर गलत बातों को चुनौती देने के लिए तैयार रहना होगा। क्योंकि आस्था और अंधविश्वास के सहारे अपने देश और समाज की तरक्की करना असम्भव है। दुर्भाग्य से हमारे देश की शासन व्यवस्था तर्कहीन और अवैज्ञानिकता की बैसाखी पर चल रही है।

अंधश्रद्धा, भाग्यवाद और विवेकहीन समर्पण की भावना लोगों की कर्मठता और सपनों को समाप्त कर देती है। जिस समाज के सपने नहीं होते, उसका वर्तमान भी उससे रूठने लगता है। 70 सालों बाद भी आज हमारा समाज इसी दयनीय हालात में खड़ा है।

इस तरह की अंधविश्वासी और अविवेकपूर्ण घटनाओं को रोकने के लिए जरूरी है कि तार्किक-लोगों में वैज्ञानिक चिन्तन का प्रचार-प्रसार किया जाए। जनता के सामने बड़े सपनों को रखा जाए, युवा उन सपनों को साकार करने के लिए साझी कोशिशें करें। लोगों के विवेक सम्मत स्वतंत्र चिन्तन को विकसित करके, सड़ी-गली मूल्य-मान्यताओं और अंधविश्वास पर निर्णायक प्रहार करके ही इन बुरी हवाओं को रोका जा सकता है।

--महेश त्यागी

पेज 38 का शेष

कहता है, मुझे फलाँ आलोचक गुरू जी के झोले में बैठना है। दूसरा प्रतिवाद करता है। अबकी नम्बर मेरा है। तुम उनकी जयपुर वाली यात्रा में बैठना। बिलासपुर की यात्रा में बैठना। बिलासपुर की यात्रा में मैं पहले से बुक हूँ। गॉडफादर हँसते हैं। वे बच्चों की मनभावन लड़ाई को प्यार से देखते हैं।

परमपिता भी हमारी लड़ाइयों को प्यार से देखता है। हिन्दू मुसलमान लड़े। उनके घर फूँके, लोग मारे गयें लेकिन मन्दिर-मस्जिद साबूत खड़े हैं। उनकी हर साल रंगाई-पुताई हो जाती है। उपर बैठा परमपिता हँसते-हँसते लोट-पोट होता है। जवान लड़का घर में बेरोजगार है। हाड़तोड़ मेहनत के बाद फसल सूखे की भेंट चढ़ गयी है। अस्पताल महँगे हैं। चारो ओर से परेशान हिन्दू-मुसलमान को मिटा देना चाहता है। ब्राह्मण को दलित सभी समस्याओं की जड़ लगता है। सब भिड़ पड़ते हैं और परमपिता हँस देता है। नीचे वाला गॉडफादर भी परमपिता की हँसी हँसता है। उसे सफल होने के रास्ते मालूम हैं। गॉडफादर जीवन की सफलता में योगदान देता है। गॉड यानी परमपिता जिन्दगी की असफलता में योगदान देता है।

सामने के घर में एक वृद्ध आदमी बरामदे में बैठा है। पढ़ा-लिखा लड़का काम की तलाश में गया है। बूढ़ी सास और उसके नाती सड़क पर आने-जाने वालों को देख रहे हैं। बहू अन्दर है जैसे वह हो ही नहीं। शाम का वक्त है। अचानक बूढ़ा कह उठता है 'शाम हो गयी, भगवान को दिया बाती कर लो।' उसे परमपिता याद है। उस अन्धेरे घर में फिर भगवान का मन्दिर उजला हो जाता है। यह भक्ति है। उस बूढ़े को परमपिता पर भरोसा है। न वह, न उसके पिता, टैलेण्टेड कोई नहीं था। ऐसे का परमपिता ही सहारा है। सबके पिता टैलेण्टेड नहीं होते।

स्विस बैंक में 50 फीसदी कालाधन बढ़ा

जून के अन्त में स्विस नेशनल बैंक ने कालाधन सम्बन्धी एक रिपोर्ट जारी की जिसके अनुसार भारतीयों ने वर्ष 2017 में स्विस बैंकों में करीब 7000 करोड़ रुपये जमा किये, जो वर्ष 2016 की तुलना में 50 फीसदी ज्यादा है। स्विस नेशनल बैंक द्वारा अब तक जारी किये गये भारतीय कालाधन सम्बन्धी आँकड़ों के इतिहास में यह दूसरी बार है, जब भारतीय कालाधन जमा होने में इतना भारी उछाल आया। इससे पहले 2004 में भाजपा सरकार के कार्यकाल में ही स्विस बैंकों में भारतीय कालाधन में 56 फीसदी की बढ़ोतरी हुई थी।

स्विस बैंक की यह रिपोर्ट आने के बाद अरुण जेटली का बयान आया कि जरूरी नहीं कि विदेशों में जमा सारा पैसा कालाधन ही हो। इसके साथ ही कार्यवाहक वित्तमंत्री पीयूष गोयल ने कहा कि स्विस बैंकों में जमा रकम में 40 फीसदी राशि "रुपये बाहर भेजने की उदार योजना (लिबरलाइस्ड रेमिटेंस स्कीम--एलआरएस) के तहत पहुँची है। वित्तमंत्री और कार्यवाहक वित्तमंत्री के बयान के अनुसार बैंकों में जमा कालाधन संरक्षण के अन्तर्गत ही विदेशों में भेजा गया है। जिसे उन्होंने उपरोक्त कानून का हवाला देकर कालाधन होने से मना किया है।

सरकार मुट्ठीभर पूँजीपतियों, कालाबाजारियों के हितों के लिए पूरी तरह मुस्तैद है। विदेशों से कालाधन वापस लाना तो दूर उल्टा कालाधन, सफेदधन बनकर विदेशों में पहुँचे इसके लिए अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्ववाली भाजपा सरकार ने 4 फरवरी, 2004 को टैक्स में छूट के साथ 25000 डॉलर विदेश ले जाने या भिजवाने को कानूनी रूप दे दिया था। कांग्रेस के शासन में इस सीमा को 75000 डॉलर तक बढ़ाया गया और मोदी सरकार ने सत्ता में आते ही विदेश रुपये ले जाने की सीमा को दस गुना बढ़ाकर 2.5 लाख डॉलर कर दिया। नोटबन्दी के दौरान इस कानून का फायदा उठाकर सटोरियों, कालाबाजारियों, पूँजीपतियों ने अपने कालेधन को विदेशों में भेजा।

सरकार कालाधन को लेकर कितनी चिन्तित है यह तो उसकी कार्रवाइयों से ही स्पष्ट होता जा रहा है। 2014 के चुनाव से पहले ही स्विस बैंक अपने 268 भारतीय खाताधारकों की सूची सरकार को सौंप चुका था। इसके अलावा सरकार को दूसरे स्रोतों से भी कालाधन रखने वालों के बारे में जानकारी प्राप्त हुई थी लेकिन सर्वोच्च न्यायालय के बार-बार कहने पर भी आज तक सरकार ने उन नामों को सार्वजनिक नहीं किया। नामों को सार्वजनिक करने के सवाल पर सरकार इन कालाबाजारियों-सटोरियों के सम्मान की चिन्ता करने लगती है। सरकार के कहे मुताबिक, नाम सार्वजनिक होने पर इन खाताधारकों की प्रतिष्ठा धूमिल होगी। 2014 में लोकसभा चुनाव का प्रचार करते वक्त नरेन्द्र मोदी कहते थे कि मैं कालाधन को सार्वजनिक कर दूँगा, कालाधन आने से हर देशवासी के खाते में 15-15 लाख रुपये आ जायेंगे, देश का बच्चा-बच्चा जानता है कि कालाधन कहाँ छिपा है, भाजपा सत्ता में आयी तो इस धन की पाई-पाई में लायी जायेगी आदि। लेकिन सत्ता में आने के बाद माननीय प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी के उपरोक्त बयान को उनकी पार्टी के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमितशाह ने चुनावी जुमला कहकर खारिज कर दिया।

स्विस बैंक की रिपोर्ट आने के बाद सरकार की कालाधन रोकथाम को लेकर किये गये ढोंग-प्रपंचों की पोल खुलनी शुरू हो गयी तो पूँजीपरस्त और सरकारपरस्त मीडिया ने स्विस बैंक में कालाधन वृद्धि की रिपोर्ट को "जायज वृद्धि" ठहराने का भरपूर प्रयास किया । कानून की आड़ में तर्क पेश कर इसे जायज वृद्धि घोषित किया गया। हाल ही में एक प्रतिष्ठित अंग्रेजी दैनिक ने "सर्वोच्च सरकारी सूत्रों" के हवाले से खबर दी कि स्विस बैंकों में भारतीयों का कालाधन 80 फीसदी तक कम हो गया है। इसके सम्बन्ध में स्विस राजदूत की पीयूष गोयल को लिखी चिट्ठी को भी प्रकाशित किया गया। हालाँकि इस चिट्ठी का एक अंश ही प्रकाशित किया गया है जिसमें वर्ष 2016-17 में कालाधन जमा होने में 44 फीसदी की कमी चिन्हित की गयी है। इस खबर को सरकार से सम्बन्ध रखने वाले तमाम अखबारों ने अपने मुखपृष्ठ पर प्रमुख स्थान दिया।

संसद में राष्ट्रपति के अभिभाषण के बाद 7 फरवरी 2018 में लोकतंत्र में धन्यवाद प्रस्ताव पर जवाब देते हुए प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने की अपनी सरकार की कोशिशों की तुलना स्वच्छ भारत अभियान से की। उन्होंने लोगों का ध्यान एक बार फिर पारदर्शिता लाने को लेकर अपनी सरकार की कोशिशों की ओर दिलाया। सरकार भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने के लिए कितनी ईमानदार है, इसका उदाहरण हमें "पनामा पेपर्स" मामले में साफ-साफ दिखाई देता है। जिनमें अमिताभ बच्चन, ऐश्वर्या, डीएलएफ के मालिक, गौतम अडानी के बड़े भाई विनोद अडानी आदि से लेकर भाजपा नेता जयंत सिन्हा, भाजपा के राज्यसभा सदस्य आरके सिन्हा समेत 700 लोगों के नाम शामिल

हैं। आज तक सरकार ने इन पर किसी भी प्रकार की कानूनी कार्रवाई करना तो दूर, उल्टा उन्हें पदमश्री और पदम् भूषण से सम्मानित किया। जबकि आइसलैंड के प्रधानमंत्री को ''पनामा पेपर्स'' में नाम आने पर जनता के विरोध के दबाव में इस्तीफा देना पड़ा और उन्हें 10 साल की सजा हो गयी। भारत में हर समस्या की जड़ को पाकिस्तान में खोजने वाला मीडिया इस मुद्दे पर चुप्पी साध गया। सरकारें कई फिल्मी नायकों, महानायकों, अरबपतियों, खरबपतियों, कालाबाजारियों, सटोरियों के नाम आने पर भी मौन साधे हुए है जबकि सर्वोच्च न्यायालय इस मुद्दे पर कई बार सरकार को फटकार लगा चुका है।

कालाधन रखने वालों पर कार्रवाई करने व नाम उजागर करने में सरकार कितनी पारदर्शिता बरतती है। इसके लिए वित्त मंत्रालय से नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एंड पॉलिसी की ओर से रिसर्च पेपर जारी करने के लिए किये गये आवेदन पर सरकार ने कोई भी जानकारी देने से साफ इनकार कर दिया।

सरकार की कालाधन को लेकर मंशा क्या है, यह नोटबन्दी के दौरान ही स्पष्ट हो गयी थी। जब तमाम सटोरिये, कालाबाजारी, घूसखोर भ्रष्ट नेता और पूँजीपति अपना कालाधन विदेशों में भेज रहे थे जबकि आम जनता अपनी मेहनत की कमाई को बचाने के लिए नोटबन्दी के दौरान बैंकों में लगी लाइनों में मर रही थी।

--सतेन्द्र

रिट्ज में विनिवेश : बहुमूल्य संस्थान की कौड़ियों के भाव नीलामी

केन्द्रीय वित्त मंत्री अरुण जेटली ने फरवरी 2018-19 के अपने बजट भाषण में घोषणा की कि सरकार ने इस वित्त वर्ष के लिए 80,000 हजार करोड़ रुपये का विनिवेश लक्ष्य रखा है। इस लक्ष्य को पाने के लिए सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के 24 उद्यमों को चुना है, जिनमें रणनीतिक विनिवेश की प्रक्रिया जल्द शुरू की जायेगी।

वित्त मंत्री जिस विनिवेश के लक्ष्य को हासिल करने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा रहे हैं, हम भी जाने की यह विनिवेश है क्या? यह क्यों और कैसे होता है? यह किसके फायदे का है और किसके नुकसान का? क्योंकि वर्गीय समाज में एक वर्ग के फायदे की बात दूसरे वर्ग के फायदे की हो यह जरूरी नहीं है।

विनिवेश विभाग की स्थापना 10 दिसम्बर 1999 में की गयी थी। तब से लेकर आज तक इसके नामों को कितनी ही बार बदला गया है। 14 अप्रैल 2016 में इसका नाम एक बार फिर बदलकर लोक एवं परिसम्पत्ति प्रबन्धन विभाग (दीपम) कर दिया गया है। विनिवेश अर्थशास्त्र का शब्द है, जिसका अर्थ है "निवेशित पूँजी को निकालना" यानी किसी भी सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी से कुछ या पूरी पूँजी सरकार द्वारा निकाल लेना यानी उस कम्पनी को बेच देना। इसका मतलब वित्त मन्त्री जिन 24 सार्वजनिक उद्यमों में विनिवेश करने की बात कह रहे हैं, वे उन्हें बेचने वाले हैं।

इन उद्यमों में से अधिकतर सार्वजनिक क्षेत्र की बड़ी कम्पनियाँ हैं, जैसे- ओएनजीसी, कोल इण्डिया, हिन्दुस्तान जिंक, एनटीपीसी, स्टील अर्थोरिटी ऑफ इण्डिया(सेल), सीमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया और रिट्ज आदि। ये कम्पनियाँ सालों से सरकार को लाखों-करोड़ों का मुनाफा देती आ रही हैं। सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी रिट्ज की शुरुआत 1974 में हुई थी। यह कम्पनी एक कंसल्टेंसी फर्म है, जो ट्रांसपोर्ट और इन्फ्रास्ट्रक्चर के क्षेत्र में सेवाएँ प्रदान करती है। कम्पनी की आमदनी का बड़ा हिस्सा विदेशों से विदेशी मुद्रा (डॉलर) में आता है। इसका एशिया, अफ्रीका, लातिन अमरीका और मध्य पूर्व के देशों समेत 62 देशों में कारोबार है और विदेशों में 337 प्रोजेक्ट चल रहे हैं। इस कम्पनी को रेलवे, शहरी यातायात, रोड, हाइवे, बन्दरगाह, जहाजरानी, हवाई अड्डे, रोपवे जैसे क्षेत्रों में महारत हासिल है।

सरकार ने इस कम्पनी की 12.6 फीसदी हिस्सेदारी 20 जून को विनिवेश के नाम पर बेच दी। सरकार ने कम्पनी के 2 करोड़ 52 लाख शेयर 180-85 रुपये प्रति शेयर के हिसाब से बेच दिये। जिससे सरकार को 466 करोड़ रुपये मिले। गौर करने वाली बात है कि जब इस कम्पनी का शेयर 180-85 रुपये में बेचा जा रहा था उस समय इसका बाजार भाव 200 रुपये से ज्यादा था जो 26 जुलाई को बढ़कर 225.50 रुपये हो गया। इसके अलावा सरकार ने खरीदारों को प्रति शेयर 6 रुपये की छूट दी। दोनों छूटों को मिलाकर देखें तो ये सरकार को मिले 466 करोड़ रुपये का लगभग 30 फीसदी बैठता है, यानी 100 करोड़ से भी ज्यादा। सरकार ने पूँजीपतियों के लिए वह काम कर दिया है "फ्री का चन्दन घिस मेरे नंदन"।

चौंकाने वाली बात तो यह है कि कम्पनी का प्रदर्शन

शानदार रहा है। इसके लाभ में सालाना 9 फीसदी की दर से बढ़ोतरी हो रही है। 2014-15 में इसका शुद्ध लाभ 3122.58 करोड़ रुपये का था जो 2016-17 में बढ़कर 3624.16 करोड़ रुपये हो गया।

रिट्ज ने पिछले 3 वर्ष 6 माह में 10986.56 करोड़ रुपये का मुनाफा कमाकर सरकार को दिया। जो सरकार द्वारा इस कम्पनी की हिस्सेदारी बेचकर मिले 466 करोड़ रुपये से 24 गुना ज्यादा है। सरकार लगातार धन की कमी का रोना रोती रहती है लेकिन इस सोने के अण्डे देने वाली मुर्गी को बेच देने पर आमादा है।

यह केवल इस कम्पनी का किस्सा नहीं है, यही हाल छोटी-बड़ी सभी सार्वजनिक कम्पनियों का है। अन्तर है तो बस इतना कि कुछ तो इस विनिवेश की प्रक्रिया से गुजर चुकी हैं, कुछ गुजरने वाली हैं। सरकार विनिवेश के नाम पर इस तरह की तमाम कम्पनियों की बलि चढ़ाकर कितना विनाश कर चुकी है। इसका अन्दाजा पिछले 4 वर्षों में किये गये विनिवेश से भली-भाँति लगाया जा सकता है।

सरकार इस दौरान हिन्दुस्तान जिंक, ओएनजीसी, कोल इंडिया और ऑयल कोरपोरेशन जैसी मुनाफा देने वाली कम्पनियों में 1.5 लाख करोड़ रुपये से ज्यादा की हिस्सेदारी बेच चुकी है।

ये केवल पिछले 4 सालों के ही आँकड़े हैं। जबकि विनिवेश की प्रक्रिया पिछले 19 सालों से चल रही है। इसके जरिये अब तक जनता की कितनी सम्पत्ति को लूटकर निजी हाथों में सौंपा गया होगा? इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब तो जनता की सम्पत्ति बेचना देशभक्ति का एक पैमाना हो गया है। जो जितना ज्यादा देश बेचता है वह अपने आप को उतना बड़ा देशभक्त कहता है।

आजादी के बाद जनता ने अपने खून-पसीने की कमाई से इन कम्पनियों को खड़ा किया था। जनता एक वक्त भूखी रही पर इन कम्पनियों को खड़ा करने के लिए जमीन, चन्दा, श्रम और टैक्स समय से पहले देती रही, तब जाकर ये कम्पनियाँ खड़ी की गयी थीं। जनता ने अपनी मेहनत से इन कम्पनियों को देश का नवरत्न बनाया था जिन्हें जवाहर लाल नेहरू ने आधुनिक भारत का मन्दिर कहा था। आजादी के बाद के 40 सालों में इतना बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र खड़ा किया गया था कि पिछले तीस सालों से सरकारें उसे बेच-बेचकर खा रही हैं फिर भी बचा हुआ है। आज भी इन कम्पनियों का लोहा पूरी दुनिया मानती है, जैसे- ओएनजीसी दुनिया में सबसे ज्यादा समुद्री गहराई से गैस निकालने वाली कम्पनी है। कोल इण्डिया का दुनिया में सबसे ज्यादा कोयले की खान खोजने, कोयला निकालने और सबसे ज्यादा रोजगार देने का रिकार्ड है। स्टील अर्थोरिटी ऑफ इण्डिया(सेल) के पास दुनिया में सबसे बड़ा स्टील का प्लांट है, जिसमें हर रोज करोड़ों टन स्टील का उत्पादन होता है, सूची अन्तहीन है।

विदेशियों ने खरीदना बन्द कर दिया और मुनाफा देने वाली कम्पनियों को बेचने का विरोध हुआ तो सरकार ने एक नया रास्ता निकाला। वह रास्ता है अपनी ही कम्पनी की हिस्सेदारी अपनी ही किसी दूसरी कम्पनी के हाथों बेचना। पिछले दिनों सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनी हिन्दुस्तान पेट्रोलियम कॉरपोरेशन लिमिटेड(एचपीसीएल) की 51 फीसदी हिस्सेदारी सार्वजनिक क्षेत्र की दूसरी कम्पनी ऑयल एण्ड नेचुरल गैस कॉरपोरेशन(ओएनजीसी) को बेची। जिसके लिए ओएनजीसी को बैंकों से 20 करोड़ रुपये का कर्ज लेना पड़ा। सरकार ने कुछ समय बाद ओएनजीसी का यह कहकर विनिवेश कर दिया कि इस पर कर्ज है।

सरकारों द्वारा अपनायी गयी इस प्रकार की नीतियों के कारण ही तो भारत के पूँजीपतियों का दुनिया के शीर्ष अमीरों में नाम है। देश की 80 फीसदी सम्पदा पर मुट्ठीभर पूँजीपतियों का कब्जा है। नहीं तो दो हाथ-दो पाँव पूँजीपतियों के पास हैं और दो हाथ-दो पाँव हमारे पास हैं। जनता काम करते हुए भी भूखी मर रही है जबकि पूँजीपति खूब अय्याशी करके भी दौलत के अम्बार खड़े कर लेते हैं। यह सिलसिला ऐसे ही चलता रहा तो वह दिन दूर नहीं जब यूरोप के गुलामों की तरह यहाँ भी गुलामों की मण्डियाँ सजेंगी। सारी सम्पदा पर पूँजीपतियों का कब्जा होगा और हम एक मुट्ठी भर अनाज के लिए भी तरसेंगे।

--अम्बुज

प्रतिबद्ध हूँ
सम्बद्ध हूँ
आबद्ध हूँ

प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित 'स्व' की आपाधापी के निषेधार्थ...
अविवेकी भीड़ की 'भेड़या-धसान' के खिलाफ...
अंध-बधिर 'व्यक्तियों' को सही राह बतलाने के लिए...
अपने आप को भी 'व्यामोह' से बारंबार उबारने की खातिर...
प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ, शतधा प्रतिबद्ध हूँ!

--नागार्जुन

सरकार यूजीसी को क्यों खत्म करना चाहती है?

रही-सही उच्च शिक्षा को भी तबाह करके उसे कॉरपोरेट घरानों के मुनाफे का साधन बनाने की कांग्रेस सरकार की कोशिशों को आगे बढ़ाते हुए मौजूदा भाजपा सरकार ने एक प्रस्ताव संसद के मानसून सत्र में पेश किया है, जिसका मकसद विश्वविद्यालयों को अनुदान देने वाली और उच्च शिक्षण संस्थानों की गुणवत्ता की जाँच करने वाली स्वायत्त संस्था विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) को खत्म करके उसकी जगह 'भारतीय उच्च शिक्षा' नामक नयी संस्था को खड़ा करना है। 'भारतीय उच्च शिक्षा अधिनियम-2018' नामक यह प्रस्ताव अगर पारित हो जाता है, तो यूजीसी की जगह 'भारतीय उच्च शिक्षा आयोग' ले लेगा। जिससे विश्वविद्यालयों को अनुदान देने समेत तमाम महत्त्वपूर्ण अधिकार सीधे सरकार यानी सरकार चलाने वाली पार्टी के नियंत्रण में आ जायेंगे।

यूजीसी की स्थापना आजादी से पहले अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की देखरेख के लिए हुई थी। आजादी के बाद आयोग को 'यूजीसी एक्ट-1956' के द्वारा स्वायत्ता देकर पूरे देश के विश्वविद्यालयों को अनुदान देने और उनके लिए शिक्षा मानक तय करने की जिम्मेदारी दे दी गयी। 1990 के बाद देश में निजी विश्वविद्यालयों व कॉलेजों की संख्या में बेशुमार बढ़ोतरी होने के साथ-साथ, आयोग को व्यापक और ज्यादा अधिकार नहीं दिया गया बल्कि उसका दायरा और अधिकार लगातार कम किया गया जिससे उच्च शिक्षा का स्तर लगातार गिरता चला गया। अब सरकार यूजीसी की रही-सही स्वायत्ता भी छीनना चाह रही है, ताकि उच्च शिक्षा को पूरी तरह कार्पोरेट जगत के अनुरूप ढाला जा सके। यह उच्च शिक्षा को तबाह करने तथा समर्पित विद्वानों को इसके नीति निर्धारण से दूर करने की कोशिश का नतीजा है। भारत के शासकों द्वारा 'विश्व व्यापार संगठन' के सामने नग्न समर्पण कर देने के साथ ही यह खेल शुरू हो गया था। उनकी निगाहों में उच्च शिक्षा का मकसद मनुष्य का सर्वांगीण विकास न होकर, उद्योगपतियों का मुनाफा बढ़ाना होना चाहिए। उसके आदेश की स्वीकार्यता की खुले रूप में पुष्टि 2000 में प्रकाशित बिड़ला-अम्बानी टास्क ग्रुप की उच्च शिक्षा की दिशा तय करने वाली रिपोर्ट में हो गयी थी। यह रिपोर्ट कहती है कि हर परिस्थिति में ढल जाने योग्य मजदूर तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए। तब से लेकर अब तक उच्च शिक्षा में होने वाला हर बदलाव "बिड़ला-अम्बानी टास्क ग्रुप" की रिपोर्ट के मुताबिक ही हुआ है।

रिपोर्ट में आगे कहा गया है कि सरकार को उच्च शिक्षा के प्रति अपनी मानसिकता में बुनियादी बदलाव लाना चाहिए, क्योंकि मौजूदा सरकारी हस्तक्षेप निजी पूँजी के निवेश और निर्माण में बाधा है। इसी का अनुसरण करते हुए कांग्रेस सरकार हायर एजुकेशन एण्ड रिसर्च बिल-2011 लायी थी, जो संसद में पास नहीं हो सका था। उसका मकसद भी यूजीसी को समाप्त करना ही था। बिड़ला-अम्बानी की रिपोर्ट पर अमल करते हुए मौजूदा सरकार ने 2016-17 में हीफा यानी हायर एजुकेशन फंडिंग एजेंसी की स्थापना की जो उच्च शिक्षण संस्थानों को अनुदान की बजाय फंड मुहैय्या कराती है, जिसे संस्थान को एक तय समय के बाद वापस करना होता है। शुरुआत में इसके फंड में 2000 करोड़ रुपये जमा किये जाने थे, जिसमें 1000 करोड़ सरकार के तथा शेष 1000 करोड़ किन्हीं भी पाँच पूँजीपतियों से जुटाने हैं। इसी के साथ-साथ हीफा में यह प्रावधान भी है कि विश्वविद्यालय अपने खर्च का 30 प्रतिशत खुद वहन करें, चाहे उसके लिए फीस बढ़ायें या सीटें कम करें।

उसी रिपोर्ट से प्रेरित नये आयोग में यह भी प्रावधान है कि सरकार सभी संस्थाओं को स्ववित्त-पोषित (सेल्फ फाइनेंस) का दर्जा दे दे, यानी सरकार उच्च शिक्षा देने की अपनी जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लेने पर अमल करते हुए सरकार ने इसी साल मार्च में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय सहित 62 उच्च शिक्षण संस्थानों को पूर्ण स्वायत्ता का दर्जा दे दिया। यानी अब वे मनचाही फीस बढ़ा सकते हैं और जरूरत पड़े तो किसी उद्योगपति को संस्थान में हिस्सेदारी भी दे सकते हैं। इससे सरकारी व निजी संस्थानों का भेद मिट जायेगा और पूँजीपति शिक्षा को बेचकर मुनाफा कमा सकेंगे। नये उच्च शिक्षा आयोग में यह प्रावधान है कि विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को अनुदान देने या ना देने का निर्णय उनकी रैंकिंग के अनुसार हो, यह भी बिडला-अम्बानी रिपोर्ट में हूबहू शामिल है। जिससे एकदम स्पष्ट है कि सरकार का मकसद उच्च शिक्षा को पूँजीपतियों की सेवा में लगा देना है। खराब रैंकिंग का हवाला देकर सरकार विश्वविद्यालयों को अनुदान देने से मना करके अपना पीछा छुड़ा लेगी। होना तो यह चाहिए था कि सरकार खराब प्रदर्शन

करने वाले विश्वविद्यालयों की जाँच करती और बेहतर प्रदर्शन करने के लिए उसे अधिक अनुदान देती, जबकि वह इसका बिल्कुल उल्टा कर रही है। जिस विश्वविद्यालय को रैंकिंग के अनुसार शुरुआत में ही कम अनुदान मिलेगा तो वह बेहतर प्रदर्शन कैसे कर पायेगा। धन की कमी के चलते उसका प्रदर्शन साल-दर-साल गिरता जायेगा और खराब गुणवत्ता का हवाला देकर सरकार उसे बन्द करके या निजी उद्योगपति को बेचकर अपना पीछा छुड़ा लेगी। इस बारे में दिल्ली विश्वविद्यालय शिक्षक संघ की पूर्व अध्यक्ष नंदिता नारायण का कहना है कि बिना गारंटिड फंडिंग के न तो संस्था गुणवत्तापूर्ण शिक्षा दे सकती है और न ही अपनी स्वायत्ता का पूरा इस्तेमाल कर सकती है। धन की कमी के चलते शिक्षण संस्थाएँ उद्योगपतियों को हिस्सेदार बनाने के लिए मजबूर हो जायेंगी, जिससे उच्च शिक्षा तबाह हो जायेगी। क्योंकि पूँजीपति मनुष्य व समाज को केन्द्र में रखकर पढ़ाई करवाने के बजाय, अपने मुनाफे को केन्द्र में रखकर करवायेंगे।

रैंकिंग, श्रेणीकृत स्वायत्ता या स्व-वित्तपोषण के बहाने से सरकार विश्वविद्यालयों के अनुदान कम करती जा रही है। इससे एक ओर बुनियादी शोध कम हो रहे हैं तथा दूसरी ओर फीस बढ़ने व छात्रवृत्ति कम होने से पिछड़े व गरीब तबके के छात्र उच्चशिक्षा से वंचित हो रहे हैं। 2014-15 के बजट में शिक्षा की हिस्सेदारी 6 फीसदी थी जो 2017-18 तक आते-आते 3.7 फीसदी रह गयी।

बिड़ला-अम्बानी रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि सरकार विश्वविद्यालय में होने वाली हर प्रकार की राजनैतिक गतिविधियों पर निगरानी रखे व उन पर रोक लगाये। यानी जहाँ समाज का सबसे प्रबुद्ध वर्ग है, वहाँ राजनीति पर प्रतिबन्ध हो। फंड मुहैया कराने का अधिकार अपने हाथ में लेकर सरकार बिड़ला-अम्बानी की इच्छा को तो पूरा कर ही सकती है साथ ही अपने खिलाफ उठने वाली हर आवाज को दबा सकती है। अनुदान बन्द हो जाने के दबाव में विश्वविद्यालय ऐसी गतिविधियों को विश्वविद्यालय विरोधी करार देने के लिए मजबूर हो जायेंगे और शिक्षा के व्यापारीकरण की राह निर्बाध हो जायेगी। फिर जेएनयू जैसे विश्वविद्यालय और छात्र नेता सरकार और पूँजीपतियों की मक्कारियों का पर्दाफाश और विरोध नहीं कर पायेंगे। शिक्षा की गुणवत्ता बनाये रखने की जिम्मेदारी यूजीसी की थी। इसकी जगह लेने वाले नये आयोग का काम केवल शिक्षा के नये मानको को अपनी वेबसाइट पर अपलोड कर देना और अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाना होगा। यह यूजीसी की तरह विश्वविद्यालयों में जाकर शिक्षा की गुणवत्ता की जाँच नहीं करेगा बल्कि अपनी मर्जी से रिपोर्ट आयोग को भेजेगा। उन मानकों को पूरा करने को विश्वविद्यालय धन कहाँ से लायेगा, इससे आयोग को कोई मतलब नहीं होगा, चाहे उसमें कालाधन ही क्यों न लग जाए। वह धन विश्वविद्यालय फीस बढ़ाकर छात्रों से वसूलेंगे या फिर संस्थान बन्द होने का खतरा झेलेंगे। अगर अनुदान देने का अधिकार सरकार के पास रहेगा तो पूँजीपति आसानी से सरकारों को निर्देश दे सकते हैं कि किस विषय पर शोध के लिए अनुदान दिया जाए और किस पर नहीं। चूँकि सभी सत्ताधारी पार्टियाँ पूँजीपतियों से पैसा लेकर ही जिन्दा हैं अतः वे भी पूँजीपतियों के लिए कुशल मजदूर पैदा करने वाले तथा मुनाफा बढ़ाने में सहायक शोधों व पाठ्यक्रमों के लिए ही अनुदान देंगी। यानी किस विश्वविद्यालय में क्या पढ़ाया जायेगा और क्या शोध होगा, यह तय करने का अधिकार अपरोक्ष रूप से पूँजीपतियों के हाथ में आ जायेगा।

आज की सरकारें यूजीसी के रहते ही जनता के खून-पसीने से तैयार विश्वविद्यालयों को पूँजीपतियों का मुनाफा बढ़ाने वाले सहायक शोध-केन्द्र बनाने में लगी हुई है। इसका उदाहरण है- आईआईटी दिल्ली का भारतीय मित्तल कम्यूनिकेशन स्कूल। इस संस्थान को कम्यूनिकेशन विभाग की आवश्यकता थी, तो सरकार ने इसके लिए अनुदान न देकर ऐयरटेल के मालिक का कम्यूनिकेशन सेंटर कैंपस में खुलवा दिया। अब उसमें ऐयरटेल पैसा देती है और अपने अनुसार शोध कराती है।

2011 की जनगणना के अनुसार भारत की मात्र 8.5 प्रतिशत आबादी ही स्नातक शिक्षा प्राप्त है। ऐसे में सरकार उच्च शिक्षा से हाथ खींचकर इसे उद्योगपतियों को सौंप देना चाहती है।

विश्वविद्यालय और कॉलेज ही समाज की वे जगहे हैं जहाँ बुद्धिजीवी वर्ग पनपता है। जिस तरह अंग्रेजी दौर में मैकाले की शिक्षा पद्धति का मकसद ऐसे लोग पैदा करना था, जो शरीर से भारतीय व दिमाग से अंग्रेज हों। उसी तरह आज के पूँजीपति भी चाहते हैं कि मौजूदा शिक्षा प्रणाली से तैयार होने वाली नौजवान पीढ़ी वैज्ञानिक और स्वतंत्र सोच वाली न होकर आज्ञाकारी, तर्कहीन और चाटुकार हो, जिसे अपने देश व समाज से कोई सरोकार नहीं हो कि किसी देश को लम्बे समय तक गुलाम बनाये रखने के लिए जरूरी है उसकी शिक्षा प्रणाली को गुलाम बना लेना। हमारे आज के शासक खुद देशी-विदेशी पूँजीपतियों के सेवक हैं। इन्हें डर है कि कहीं आजाद ख्याल नौजवान पीढ़ी इनकी सत्ता को न उखाड़ फेंके।

--विशाल

जल संकट पर नीति आयोग की चौकाने वाली रिपोर्ट

हाल ही में नीति आयोग ने 'समग्र जल प्रबन्धन सूचकांक' रिपोर्ट जारी की। इस रिपोर्ट ने जल प्रबन्धन को लेकर भारतीय शासक वर्ग की गम्भीरता की पोल खोलकर रख दी और देश में जल संकट की भयावह तस्वीर प्रस्तुत की। जल प्रबन्धन की दुर्दशा का अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि देश की 60 करोड़ आबादी को दैनिक-जीवन के लिए आवश्यक पानी की एक-एक बूँद के लिए तरसना पड़ रहा है। हालात इतने ज्यादा भयावह हो चुके हैं कि स्वच्छ जल उपलब्ध न होने के कारण हर साल करीब दो लाख लोगों को मौत अपनी चपेटे में ले लेती है। जल की गुणवत्ता के मामले में भारत 122 देशों की सूची में नीचे से तीसरे पायदान पर है। रिपोर्ट की माने तो 2030 तक देश में जल की माँग आपूर्ति के मुकाबले दुगुनी हो जाएगी। जिसका नतीजा जल संकट से प्रभावित लोगों की संख्या में और ज्यादा बढ़ोतरी के रूप में हमारे सामने होगा। इस रिपोर्ट में यह भी दावा किया गया है कि 2020 तक देश के 21 शहरों से भू-जल गायब हो जाएगा जिनमें दिल्ली, बैंगलोर, चेन्नई, हैदराबाद जैसे बड़े शहर भी शामिल हैं। यदि जल प्रबन्धन को लेकर शासक वर्ग का यही रवैया रहा तो वह दिन ज्यादा दूर नहीं है जब हर साल जल संकट की वजह से मरने वाले लोगों की संख्या करोड़ों में पहुँच जाएगी।

इस विकराल संकट को समझने के लिए हमें इसे पर्यावरण संकट से जोड़कर देखना होगा। विकास के नाम पर प्रकृति के साथ छेड़छाड़ और पर्यावरण विनाश के कारण ही आज हमारे सामने जल संकट भयावह तबाही मचाने के लिए मुँह बाए खड़ा है। यह प्राकृतिक आपदा नहीं है बल्कि अंधाधुंध और बदहवास पूँजीवादी विकास का नतीजा है। इस तथाकथित विकास ने ही आज हमारे सामने ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की हैं।

लगभग 50 करोड़ लोगों को जीवन देने वाली गंगा, यमुना, ब्रम्हपुत्र, घाघरा, गंडक, कोसी जैसी हिमालयी नदियाँ भी आज अस्तित्व के संकट से जूझ रही हैं। ये भारत के एक बड़े इलाके को अपने जल से सींचती हैं लेकिन तेजी से बढ़ते प्रदूषण से इन नदियों के पानी की मात्रा और गुणवत्ता में भारी कमी आ रही है। भारतीय संस्कृति में पूजनीय गंगा नदी का पानी आज पीने लायक भी नहीं बचा है। गंगा के किनारे लगाये गये कल-कारखानों, उद्योगों और सीवरों से निकलने वाले गंदे पानी को बिना शोधित किये नदी में बहा दिया जाता है, जिससे यह नदी दिन-ब-दिन किसी विषैले नाले में तब्दील होती जा रही है। नीति आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में इस बात को स्पष्ट किया है कि आज हमारे देश में उपलब्ध जल का 70 फीसदी हिस्सा प्रदूषित हो चुका है।

देश के दक्षिणी और पश्चिमी हिस्से के जलाशयों के जल स्तर का लगातार गिरते जाना, पेयजल और सिंचाई की समस्या का लगातार बने रहना आज किससे छिपा है? मराठवाड़ा क्षेत्र की दुर्गति का कारण प्रकृति का प्रकोप नहीं बल्कि धूर्त सरकारों की दुर्व्यवस्था, ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाने के लिये तत्पर बहुराष्ट्रीय बीज कम्पनियाँ और गन्ना माफिया हैं। ऐसी कम्पनियाँ जो बीटी कपास जैसे हाइब्रिड बीजों को मराठवाड़ा जैसी जगहों पर भी बढ़ावा देती रही हैं। बीटी कपास में मौजूद विषाक्त पदार्थ मिट्टी से जीवों को नष्ट कर देते हैं। इस तरह, मिट्टी की जल धारण क्षमता को कम करने के साथ ही यह इसे बंजर भी बना देते हैं। गन्ना माफिया मुनाफा कमाने के लालच में उन इलाकों में भी चीनी मिलें लगा देते हैं जहाँ पहले से ही पानी की बहुत कमी है।

अकेले मराठवाड़ा क्षेत्र में ही 70 चीनी मिलें हैं। इन मिलों के लिए 2,500 टन गन्ना उपजाने के लिए 25,00,000 लीटर पानी की आवश्यकता पड़ती है। इस पूरे क्षेत्र में हर साल केवल 600-700 मिलीमीटर बारिश होती है और मिट्टी की जल धारण क्षमता बहुत कम है। पथरीली मिट्टी होने के कारण बारिश का सिर्फ 10 प्रतिशत पानी ही भूजल को रिचार्ज करने में प्रयुक्त हो पाता है जो पर्याप्त नहीं है। सरकार ऐसी स्थिति से वाकिफ है। इसके बावजूद बीटी कपास और गन्ने की फसलों को बढ़ावा देने पर सवाल खड़ा होता है। पानी निगलने वाली मिलों को सरकार की मंजूरी कैसे मिल जाती है? यह सवाल सीधे सरकारों की तरफ इशारा करता है जिसका काम जनसामान्य के शरीर का एक-एक कतरा खून निचोड़कर इन कम्पनियों और गन्ना मिलों को ज्यादा से ज्यादा मुनाफा पहुँचाना भर रह गया है। इस इलाके में लगभग सभी पार्टियों के किसी न किसी नेता की अपनी चीनी मिल है। इन मिल मालिकों के आलीशान बंगलों को देखकर कहीं से भी नहीं लगता कि यह इलाका भयानक सूखे की चपेट में है और पानी की एक-एक बूँद के लिए तरसता होगा। यह बात तो जगजाहिर है कि यदि इन फसलों से किसानों का फायदा हो रहा होता तो आज यह क्षेत्र किसानों की आत्महत्या की राजधानी के रूप में नहीं जाना जाता। आज देश के रहनुमाओं से यह सवाल पूछने का वक्त आ गया है कि यदि कर्नल गद्दाफी लीबिया के रेगिस्तान में घर-घर पानी की पाइपलाइन बिछा सकते हैं जिन्हें अमरीका ने तानाशाह कहकर खत्म कर दिया था। आज भारत में लोग बूँद-बूँद पानी के लिए क्यों तरस रहे हैं? क्या यह संकट सरकारी बदइन्तजामी और लापरवाही का नतीजा नहीं?

--कवीन्द्र कबीर

बुलेट ट्रेन परियोजना का विरोध

18 जुलाई 2018 को गुजरात के भरूच जिले के किसानों ने जापान के प्रधानमंत्री को एक पत्र भेजा। उस पत्र में बुलेट ट्रेन परियोजना को बन्द करने के लिए कहा गया था। इस परियोजना को बन्द करके ही किसानों को तबाही से बचाया जा सकता है। सरकार ने किसानों के भारी विरोध के बावजूद परियोजना को हरी झंडी दे दी। भरूच जिले के 27 गाँवों के किसान सरकार के इस कदम से भारी आक्रोश में हैं। इस जिले में 140 हेक्टेयर जमीन का अधिग्रहण होना है। जिसे किसानों ने देने से मना कर दिया है। बुलेट ट्रेन परियोजना अहमदाबाद से मुम्बई तक 509 किलोमीटर लम्बी है। दोनों राज्यों से कुल 1200 हेक्टेयर जमीन का अधिग्रहण होना है। अधिग्रहण शुरू कर दिया गया है। इसमें कुछ जमीन गोदरेज समूह की भी जायेगी और कुछ मार्ग समुद के अन्दर से होकर गुजेरेगा। इस परियोजना से गुजरात के 195 और महाराष्ट्र के 104 गाँवों की जमीनें छीनी जाएँगी।

भरूच जिले की घटना से लगभग 15 दिन पहले खेड़ा जिले के किसानों ने राज्य के किसानों को गोलबन्द करने के लिए 'खेडुत सम्पर्क अभियान' की शुरुआत की थी। लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए गुजरात के 192 गाँवों के किसानों को संगठित करना इसका लक्ष्य है। इस अभियान में शामिल किसानों ने इस परियोजना के खिलाफ कोर्ट में याचिका दायर की है। खेड़ा जिले के ज्यादातर किसान सब्जी की खेती करते हैं। इनकी जमीन बेहद उपजाऊ है। इसलिए किसान अपनी जमीन को बचाने के लिए उग्र अभियान चला रहे हैं।

18 जून 2018 को गुजरात के सूरत जिले के किसानों ने सियाल गाँव से कलेक्ट्रेट कार्यालय तक पैदल जुलूस निकाला। जुलूस के दौरान कार्यालय की तरफ जाने वाली सड़कें किसानों से भर गयी थीं। जुलूस के दौरान किसानों ने "बुलेट ट्रेन नहीं चलने देंगे" जैसे नारे लगाये। किसानों के हाथों में ऐसे ही नारों से लिखे हुए बैनर भी थे। इस जुलूस में 27 गाँवों के सैंकड़ों किसान शामिल हुए। महाराष्ट्र के आम और चीकू की खेती करने वाले किसानों ने भी जमीन देने से मना कर दिया है। किसान इस परियोजना के खिलाफ हैं, क्योंकि उन्हें उपजाऊ जमीन छिन जाने का डर है।

14 सितम्बर, 2017 को अहमदाबाद में बुलेट ट्रेन परियोजना का उद्घाटन किया गया था। उद्घाटन के दूसरे दिन ही किसान और आदिवासी संगठनों ने मुम्बई के पालघर जिले के बोईसर रेलवे स्टेशन पर प्रदर्शन शुरू कर दिया। थोड़ी देर में किसानों और आदिवासियों की भीड़ से पूरा स्टेशन खचाखच भर गया। उसके बाद प्लेटफार्म से किसान और आदिवासी संगठनों ने एकजुट होकर स्टेशन से गुजरने वाली ट्रेनों को काले झंडे दिखाये। पूरा स्टेशन किसानों के "बुलेट ट्रेन हटाओ" और "लोकल ट्रेन लाओ" जैसे नारों से गूँजने लगा और ऐसे नारों के बैनरों से पट गया।

कई गाँवों में किसानों ने परियोजना के लिए सर्वे करने आयी टीमों को भगा दिया। किसानों ने वलसाड जिले के वाघलधरा क्षेत्र से एक सर्वेक्षण टीम को दो बार वापस लौटाया। सरकार ने किसानों को सर्वेक्षण के काम के बारे में कोई पूर्व सूचना नहीं दी जाती। उसके बावजूद सर्वेक्षण टीमों को गाँवों में भेजा जा रहा है। भूमि अधिग्रहण कानून के अनुसार किसानों को 60 दिन पहले ही सूचना दे देनी चाहिए थी। लेकिन सरकार अपनी मनमानी कर रही है।

आखिर इन इलाकों के किसान जमीन अधिग्रहण के खिलाफ क्यों हैं? क्या वे बुलेट ट्रेन के खिलाफ हैं? दरअसल किसानों और आदिवासियों के पास सम्पति के नाम पर केवल खेत-खलिहान ही हैं। खेती से वे अपने लगभग सभी खर्चे चलाते हैं। सरकार और किसानों के बीच में दूरी बहुत अधिक बढ़ गयी है, क्योंकि सरकार ने इस परियोजना से प्रभावित होने वाले किसानों से कोई बात नहीं की है। किसानों की पहली माँग यह है कि 2013 के जमीन अधिग्रहण कानून को लागू किया जाये। इस कानून के मुताबिक उपजाऊ जमीन अधिग्रहण के लिए 70 फीसदी किसानों की सहमति होनी चाहिए। अधिग्रहण से पहले किसानों के पुनर्वास की व्यवस्था होनी चाहिए। उपजाऊ जमीन के बजाय बंजर जमीन का अधिग्रहण किया जाये। जमीन का अधिग्रहण तभी किया जाये, जब सरकार अधिग्रहण करने वाली जमीन पर जनकल्याण सम्बन्धी कामकाज जैसे स्कूल, कॉलेज, अस्पताल, बैंक, आदि बनाना चाहती हो। जमीन की कीमत किसानों से बात करके तय की जाये। किसानों को जमीन की कीमत का 4 गुना मुआवजा दिया जाये। उनकी एक माँग यह भी है कि जहाँ परियोजना बनेगी उन इलाकों में किसानों को नौकरी देने की गारन्टी हो, जिससे उनका भविष्य सुरक्षित हो सके। लेकिन सरकार की मंशा कुछ और ही है।

बुलेट ट्रेन परियोजना में कुछ जमीन गोदरेज समूह की भी ली जायेगी। गोदरेज समूह अपनी जमीन देने से मना कर रहा है। गोदरेज समूह का कहना है कि उस जमीन की कीमत 800 करोड़ रुपये है। अगर सरकार को जमीन चाहिए तो उसे इतनी कीमत

अदा करनी होगी। इससे साफ जाहिर होता है कि गोदरेज समूह अपनी शर्तों पर जमीन बेचना चाहता है, सरकार की शर्तों पर नहीं। जबकि सरकार किसानों की जमीन अपनी शर्तों पर खरीदना चाहती है।

सरकार बुलेट ट्रेन परियोजना के लिए 1,10,000 करोड़ रुपये खर्च कर रही है। इसमें से 88,000 करोड़ रुपये का कर्ज जापान सरकार से लिया गया है। यह खर्च हमारे शिक्षा बजट से भी ज्यादा है। किराया बेहद महँगा होने के चलते किसान-मजदूर बुलेट ट्रेन में यात्रा के बारे में सोच भी नहीं सकते। इस ट्रेन का किराया 3000 रुपये या इससे ज्यादा हो सकता है। इसका मतलब है कि इस ट्रेन से केवल अमीर ही यात्रा करेंगे। दरअसल यह परियोजना पूँजीपतियों, व्यापारियों और उच्च मध्यम वर्गीय लोगों के लिए है। सरकार लोकल ट्रेनों की खस्ता हालत पर भी ध्यान नहीं दे रही है। आये दिन ट्रेन हादसे हो रहे हैं। कभी ट्रेन पटरी से उतर रही है तो कहीं ट्रेन का डिब्बा पलट रहा है। ट्रेनें 10-15 घंटे देरी से चल रही हैं। उनमें लोग बहुत बुरी हालत में लटक कर सफर करते हैं। कोई गेट से लटकता मिलेगा तो कोई ट्रेन के डब्बे की छत पर बैठा मिलेगा। एक्सप्रेस ट्रेनों के जनरल डिब्बों में तो कई लोगों को शौचालय तक में घुसकर यात्रा करनी पड़ती है। किसानों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि सरकार जनता को इन्सान ही नहीं मानती। सिर्फ मुट्ठीभर धनी लोगों के हित में काम करती है। अभी कुछ दिन पहले प्रधानमंत्री का बयान भी आया था कि मुझे उद्योगपतियों के साथ खड़े होने में डर नहीं लगता। मतलब प्रधानमंत्री जी जनता के साथ नहीं हैं, जो देशी-विदेशी पूँजीपति कहेंगे, वही वे करेंगे।

राजनीतिक पार्टी शिवसेना ने किसान आन्दोलन को समर्थन देने की बात कही है, जबकि यही शिवसेना महाराष्ट्र में बीजेपी सरकार को समर्थन भी दे रही है और पूरी तरह जमीन कब्जाने वाली बीजेपी सरकार के साथ है। अगर इसे किसानों की इतनी चिन्ता होती तो अब तक सरकार का दामन छोड़ चुके होते। बुलेट ट्रेन परियोजना को लेकर सरकार और किसान आमने-सामने आ गये हैं। किसानों का विरोध सरकार पर भारी पड़ रहा है क्योंकि सरकार अभी तक बहुत कम जमीन का अधिग्रहण कर पायी है। एक तरफ सरकार जमीन का अधिग्रहण करने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रही है तो दूसरी तरफ किसान भी अधिग्रहण के खिलाफ लामबन्द हो रहे हैं। किसानों के पास अब एक ही रास्ता है कि वे आपस में संगठित हों और सरकार के किसान विरोधी फैसले का डटकर मुकाबला करें।

--ललित कुमार

आयुष्मान भारत योजना : जनता या बीमा कम्पनियों का इलाज?

फरवरी 2018 में वित्तमंत्री अरुण जेटली ने 'आयुष्मान भारत योजना' की घोषणा करते हुए कहा था कि इस योजना से 10 करोड़ गरीब जरूरतमन्द परिवारों को इलाज के लिए आर्थिक मदद मिलेगी। यह एक बीमा योजना है, जिसमें 1100-1200 रुपये सालाना प्रीमियम भरना होगा। इसका ज्यादातर हिस्सा सरकार देगी। एक परिवार इलाज के लिए साल में 5 लाख रुपये तक की बीमा राशि ले सकता है। लेकिन इस योजना का लाभ उन नागरिकों को मिलेगा जिनका नाम 'सामाजिक-आर्थिक और जाति जनगणना' (एसईसीसी, 2011) में दर्ज होगा।

सुनने में यह योजना बड़ी अच्छी लगती है लेकिन वास्तव में यह एक मृग-मरीचिका से ज्यादा कुछ नहीं है। क्योंकि सरकार ने एसईसीसी में दर्ज होने की जो शर्त रखी है, उससे गरीब जनता का 95 फीसदी हिस्सा इस बीमा योजना से बाहर हो जाता है। अगर एसईसीसी की शर्तों को जान लें तो इस पूरी योजना की कलई खुल जाती है।

एसईसीसी के तहत सरकार ने देश भर में गरीबों की एक नयी सूची तैयार की है। गरीबों की इस नयी सूची को बड़े षडयंत्रकारी ढंग से तैयार किया गया है। इस सूची में नाम दर्ज कराने के लिए दो तरह के मानदंडों को रखा गया है। पहला, सरकार ने 14 पैमाने दिये हैं। अगर कोई उनमें से एक पर भी खरा नहीं उतरता तो वह एसईसीसी से बाहर हो जाएगा। जैसे-- अगर उसके पास मोटर चलित दोपहिया, तिपहिया या चार पहिये वाला वाहन या मछली पकड़ने की नाव हो। इसके अलावा यदि परिवार में कोई भी व्यक्ति 10,000 रुपये प्रतिमाह से अधिक कमाता है या 50 हजार रुपये और इससे अधिक की मानक सीमा के किसान क्रेडिट कार्ड का इस्तेमाल करता है तो ऐसे लोगों को एसईसीसी के अन्तर्गत नहीं माना जाएगा। ऐसे में अगर किसी ने 5000-10,000 तक की पुरानी मोटर साइकिल खरीद ली है या जैसे-तैसे ब्याज पर पैसा लेकर अपने परिवार का गुजारा करने के लिए ई-रिक्शा या ऑटो खरीद लिया है तो वह एसईसीसी से बाहर है। ऐसे ही अगर परिवार का मुखिया 10,000-12,000 रुपये कमाकर पाँच लोगों के परिवार का पेट पाल रहा है तो वह कितना बड़ा रईस है और अपने परिवार के लिए कैसे इलाज और पढ़ाई का इंतजाम कर सकता है इस बात को भी हम सब जानते हैं।

दूसरे स्तर पर पाँच मापदंड रखे गये हैं। यदि कोई व्यक्ति इनमें से एक भी पूरा करता है, तो उसे एसईसीसी के अन्तर्गत माना जाएगा। जैसे-- बेघर लोग, निराश्रित, भिक्षुक, आदिम जनजातीय समूह आदि। ये ऐसे लोग हैं जिनको अशिक्षित होने के कारण यह भी पता नहीं होता कि बीमा योजना किस चिड़िया का नाम है। वे लोग भला साइबर कैफे जाकर इन योजनाओं के लिए अपना रजिस्ट्रेशन करा सकते हैं और अगर करा भी लें तो क्या बीमा कम्पनियों से रुपया निकलवा सकते हैं।

दूसरा, अभी तक एसईसीसी के अन्तर्गत ग्रामीण इलाके के जो आँकड़े आये हैं उनसे पता चलता है कि मेहनत करने वाले 39.39 फीसदी परिवार जिनमें से अधिकतर गरीबी रेखा से नीचे हैं और वे 14 मापदंडों को पूरा न करने के चलते इस योजना का लाभ नहीं ले सकते और जो परिवार अगले 5 मापदंडों को पूरा करतें हैं उनकी सँख्या 3.01 करोड़ है, निरक्षरता के चलते वे इस योजना का लाभ उठाने में सक्षम ही नहीं हैं।

अगर ऊपर कही गयी बातों को छोड़ भी दें तो क्या यह योजना अपने उद्देश्य पर खरी उतर पायेगी? हमारे देश में हर परिवार की आय का बड़ा हिस्सा इलाज पर खर्च होता है। क्योंकि सस्ते इलाज के लिए जो सरकारी अस्पताल बनाये गये थे वे आज इलाज करने की स्थिति में ही नहीं रहे और निजी अस्पतालों की लूट के किस्से तो हम आये दिन अखबारों या न्यूज में सुनते रहते हैं। इनकी बेलगाम लूट पर किसी का कोई अंकुश नहीं है।

अगर सरकार को आम जनता के दवा-इलाज की चिन्ता होती तो वह स्वास्थ्य सेवाओं को निजी मुनाफाखोरों के हवाले नहीं करती। लेकिन सरकार की छत्रछाया में ही ये मौत के सौदागर अपना धंधा चला रहे हैं।

राँची के मेदान्ता अस्पताल ने एक किसान को इलाज के 98,506 रुपये जमा न करने के चलते दो महीने तक बन्धक बना कर रखा और राज्य के मुख्यमंत्री के हस्तक्षेप के बाद ही छोड़ा। हालाँकि वह 4 लाख रुपये पहले ही जमा करा चुका था।

गुरूग्राम, हरियाणा के निजी अस्पताल, "पारस" ने बेवजह एक मरीज के सिर का ऑपरेशन कर दिया, जिससे मरीज की हालत बिगड़ गयी। मरीज की जान तो बच गयी लेकिन अन्त मे अस्पताल ने 82 लाख रुपये का बिल परिवार वालों के हाथ में थमा दिया।

इसी तरह दिल्ली के मैक्स अस्पताल ने भी पिछले दिनों बुखार से पीड़ित एक बच्ची के इलाज का बिल 22 लाख रुपये बनाया जबकि आधुनिक तकनीकों से लैस यह अस्पताल उस बच्ची की जान भी नहीं बचा पाया था। इससे मिलती-जुलती घटनाएँ रोज ही अखबारों में आती रहती हैं और निजी अस्पतालों की स्थिति को हम अपने अनुभव से भी जानते हैं।

निजी अस्पतालों में इलाज के बारे में आयी एक रिपोर्ट कहती है कि दिल्ली एनसीआर के कई निजी अस्पताल दवाओं और उपकरणों के दाम में हेरा-फेरी करके अपने मरीजों से 1700 फीसदी तक मुनाफा वसूल रहे हैं। कई अस्पताल तो 1 रुपये मे खरीदे गये साधारण दस्ताने के लिए मरिजों से 2800 रुपये वसूल रहे हैं। ऐसी बेलगाम लूट-खसोट की फेहरिस्त बहुत लम्बी है।

अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार प्राप्त अमरीका के डॉ. कैनेथ एरो ने 1963 में चेतावनी दी थी कि "स्वास्थ्य सेवा को बाजार के हवाले करना आम लोगों के लिए जानलेवा होगा"। उनकी चेतावनी सच साबित हो रही है।

अब देश की 80 फीसदी से अधिक आबादी के पास एक ही रास्ता बचा है कि वे सरकारी अस्पतालों में इलाज करवाने के लिए अपनी किस्मत आजमायें। इनमें होने वाली दुर्गति से भी हम सब बाबस्ता हैं।

हमारे देश के सबसे अच्छे सरकारी अस्पताल एम्स का हाल यह है कि इसकी ओपीडी में रोजाना औसतन 10,000 से ज्यादा रोगी आते हैं जबकि यह अधिकतम 6000 रोगी ही सम्भाल सकता है। 4000 रोगियों को बैरंग वापस लौटना पड़ता है। यहाँ भर्ती होना तो युद्ध जीतने के समान है। जो यहाँ किसी तरह पर्चा बनवा भी ले तो उनके इलाज का आलम यह है कि एक छोटी बच्ची को दिल के ऑपरेशन के लिए दिसम्बर 2022 की तारीख दी गयी, गले के कैंसर से पीड़ित एक महिला को दो साल बाद की तारीख मिली।

सरकारी अस्पताल मरीजों के दबाव, सुविधाओं की कमी, दवाइयों की कमी, डॉक्टरों व स्टॉफ की कमी और गन्दगी से बदहाल हो गये हैं। केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के अनुसार देश में 6,00,000 डॉक्टरों की तुरन्त जरूरत है, साथ ही एक डॉक्टर के साथ न्यूनतम एक जूनियर डॉक्टर व दो नर्स की आवश्यकता होती है, इस हिसाब से 24,00,000 डॉक्टरों व सहायक स्टाफ की तुरन्त जरूरत है। हमारे देश में मरीजों और डॉक्टरों का अनुपात वियतनाम, अल्जीरिया और पाकिस्तान से भी बदतर हालत में है।

सरकारी अस्पतालों में मरीजों को दिखाने और जाँच कराने की प्रक्रिया इतनी जटिल बना दी गयी है कि इसी भागदौड़ में किसी का डॉक्टर से मिलने का समय खत्म हो जाता है, तो कोई मरीज अपनी जान से ही हाथ धो बैठता है। अस्पतालों के बरामदे और दरवाजों पर बच्चा जननें की खबरें भी आम हैं।

'आयुष्मान भारत योजना' सरकारी अस्पतालों की बदहाल स्थिति को सुधारने और निजी अस्पतालों की लूट पर रोक लगाने से मुँह फेर चुकी सरकार का जनता को थमाया गया एक झुनझुना है। साथ ही, यह सरकारी खर्च पर बीमा कम्पनियों का मुनाफा बढ़ाने की एक साजिश है। यही इसका मकसद भी है। नहीं तो, कौन नहीं जानता कि इलाज की समस्या का समाधान केवल सरकारी अस्पतालों की संख्या बढ़ाकर और उनकी हालत सुधारकर ही हो सकता है। लेकिन सरकार को मेहनतकश जनता की सेहत की नहीं बल्कि बीमा कम्पनियों की सेहत की चिन्ता है।

--मोहित वर्मा

एबीवीपी की अराजकता

26 जून 2018 को गुजरात के कच्छ विश्वविद्यालय में आरएसएस की छात्र शाखा अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) के नेताओं ने छात्र चुनाव में धाँधली का आरोप लगाते हुए एक प्रोफेसर के मुँह पर कालिख पोत दी। विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर चन्द्रसिंह जडेजा ने बताया कि एबीवीपी छात्रों का एक समूह चुनाव समिति के अध्यक्ष प्रोफेसर गीरीन बख्शी के पास उस समय पहुँचा जब वह कक्षा में लेक्चर दे रहे थे। उस समूह ने उन्हें कक्षा से बाहर खींच लिया और उनके मुँह पर कालिख पोतकर रजिस्ट्रार कार्यालय तक जुलूस निकाला। छात्रों ने प्रोफेसर बख्शी पर आरोप लगाया कि वह वोटर रजिस्ट्रेशन फार्मों को जानबूझकर निरस्त कर रहे थे। जाँच में यह आरोप पूरी तरह झूठा साबित हुआ।

इसी से मिलती-जुलती एक घटना 10 जनवरी 2018 की गिरडीह कॉलेज की है, जहाँ पर दो सहायक प्रोफेसरों डॉ. बलभद्र सिंह और नीतेश कुमार पर रात करीब साढ़े नौ बजे हमला किया गया। पुलिस को दिये गये आवेदन के अनुसार 10 जनवरी को गिरडीह कॉलेज में छात्र संघ चुनाव था। परिणाम घोषित होने के बाद दोनों प्रोफेसर रात साढ़े नौ बजे घर के लिए निकले। रास्ते में उन पर लाठी-डंडो से हमला किया गया। उनका पर्स छीन लिया और इतना ही नहीं उन्हें धमकी दी गयी कि यदि नौकरी करनी है तो 10-10 हजार रुपये की रंगदारी देनी होगी। यह हमला एबीवीपी के कार्यकर्ताओं द्वारा किया गया था।

गुजरात के प्रोफेसर से बदसलूकी, स्वामी अग्निवेश पर हमला, दिल्ली विश्वविद्यालय में एबीवीपी के पूर्व अध्यक्ष सतिंदर सिंह अवाना द्वारा लॉ विभाग की डीन वेद कुमारी को पुलिस के सामने धमकाना, हैदराबाद के नारायण जूनियर कॉलेज में तोड़फोड़ करना, रायपुर छत्तीसगढ़ के पब में शराब पीने के लिए तोड़फोड़ करना। पिछले कुछ महीनों में ऐसी तमाम घटनाओं में एबीवीपी और आरएसएस से जुड़े लोगों की संलिप्तता पायी गयी।

आजादी के पहले से ही आरएसएस देश का साम्प्रदायीकरण करने में लगी है। जब से भाजपा सत्ता में आयी है, तब से साम्प्रदायिक और कथित राष्ट्रवादी संगठन चौतरफा अराजकता का माहौल बनाये हुए हैं। ये लोग कभी भी जानलेवा हमला कर देते हैं, खुलेआम किसी को बेइज्जत कर देते हैं, कानून को हाथ में लेकर किसी भी घटना का निर्णय स्वयं कर देते हैं और प्रशासन हाथ पर हाथ धरे बैठा है।

भाजपा के सत्ता में आने के साथ ही विश्विद्यालयों में अशांति और अराजकता का माहौल बना हुआ है। इसके पीछे सरकार की जन विरोधी शिक्षा नीतियाँ, फीस में बढ़ोतरी, छात्रवृत्ति में कटौती, प्रमुख पदों पर अपने अक्षम और अकुशल समर्थकों की भर्ती प्रमुख कारण हैं।

इन छात्र विरोधी फैसलों के खिलाफ छात्रों की हर आवाज को दबाने में शासन-प्रशासन के साथ भाजपा से जुड़े संगठनों का अपवित्र गठबन्धन है जो एक साथ मिलकर काम करते हैं। आये दिन शैक्षिक संस्थाओं में आयोजित किसी नाटक, गोष्ठी, सेमिनार पर रोक लगा देना या हंगामा खड़ा करना, विरोधी छात्र संगठनों का दमन करना, एबीवीपी की मनमानी और विश्वविद्यालय परिसर से उठने वाली हर आवाज का गला घोंटने के तानाशाही रवैये का हिस्सा है। कांग्रेस और दूसरी पार्टियों के छात्र संगठन भी अपनी सत्ताधारी पार्टी के पक्ष में काम करते रहे हैं, लेकिन इतने खुले रूप में छात्र हितों की जगह पार्टी हितों के लिए काम करना नहीं देखा गया। ये घटनाएँ ज्ञान-शील-एकता के आकर्षक नारे में छिपे उनके असली चरित्र को उजागर करती हैं।

--सन्देश कुमार

बागबाँ बन के सय्याद आने लगे;
बुलबुलों को मुहाजिर बताने लगे

भाईचारा! मुहब्बत! अमन! दोस्ती!
भेड़ियों के ये पैगाम आने लगे

आपसे तो तकल्लुफ का रिश्ता न था;
आप भी दुनियादारी निभाने लगे!

दर्द वो क्या जो गुमसुम सा बैठा रहे!
दर्द तो वो है जो गुनगुनाने लगे

एक लमहा था; आया, गुजर भी गया;
पर इसे भूलने में जमाने लगे

--अमर नदीम

रत्नागिरी रिफाइनरी परियोजना का जोरदार विरोध

30 मई को राजापुर के गाँधी मैदान में 17 गाँवों के 1500 से ज्यादा लोगों ने रत्नागिरी रिफाइनरी परियोजना के खिलाफ विरोध प्रदर्शन किया। इनकी माँग थी कि इस परियोजना को पूरी तरह बन्द किया जाये। रत्नागिरी रिफाइनरी सहपेट्रोकैमिकल नाम की यह परियोजना रत्नागिरी जिले के नाणार गाँव में लगनी है। इसमें आस-पास के 17 गाँवों की जमीन जायेगी। गाँव के बाशिंदों के भारी विरोध के बावजूद सरकार ने जमीन अधिग्रहण शुरू कर दिया था लेकिन कई जगह पुलिस-प्रशासन और ग्रामीणों के बीच खूनी टकराव होने के कारण काम रोक दिया गया। महाराष्ट्र सरकार में शामिल शिव सेना भी इस परियोजना के विरोध में है।

इसे दुनिया की सबसे बड़ी सिंगल लोकेशन रिफाइनरी परियोजना बताया जा रहा है। इसकी क्षमता सालाना 6 करोड़ टन कच्चा तेल साफ करने की होगी। सरकारी अनुमान के अनुसार इसमें 3 लाख करोड़ रुपये की लागत आयेगी और लगभग 5.5 हजार हेक्टेयर (82,500 बीघा) जमीन का अधिग्रहण होगा। यहाँ सरकार की अपनी जमीन केवल 52 हेक्टेयर है।

इस परियोजना को सरकार दुनिया की सबसे बड़ी तेल उत्पादक कम्पनी साउदी आरामको के साझे में लगायेगी। पैट्रोलियम मंत्री धर्मेन्द्र प्रधान का कहना है कि यह परियोजना नया इतिहास रचेगी। इसमें एक लाख लोगों को रोजगार मिलेगा। उनके इस बयान पर परियोजना का विरोध कर रही संघर्ष समिति के लोगों का कहना है कि प्रधान जी यह इतिहास क्या जैसलमेर और बाड़मेर के रेगिस्तान में नहीं रच सकते, जहाँ हजारों हेक्टेयर जमीन वीरान पड़ी है। अपनी इतिहास रचने की सनक को वे दुनिया के इस सबसे ज्यादा जैव-विविधता वाले और हरे-भरे इलाके को उजाड़कर ही क्यों पूरा करना चाहते हैं?

अगर सरकार लोगों को रोजगार उपलब्ध करवाने के प्रति इतनी ज्यादा चिन्तित है तो उसे रिफाइनरी बुंदेलखंड जैसे इलाकों में लगानी चाहिए, जहाँ आबादी का काफी बड़ा हिस्सा रोजगार की तलाश में पलायन करने को मजबूर है। वहाँ सरकार को यह गारन्टी भी पहले से ही कर देनी चाहिए कि इस परियोजना में मैनेजर से लेकर चौकीदार तक सभी लोग स्थानीय ही होंगे। जाहिर है, ये बयान बहादुर, ऐसा कुछ भी नहीं कर सकते।

वास्तव में जैव-विविधता से सम्पन्न पश्चिमी घाट के कोंकण क्षेत्र का यह इलाका भारत के सबसे धनी किसानों के इलाकों में से एक है। यहाँ का अलफांसों आम और काजू पूरी दुनिया में मशहूर है। यहाँ छोटे किसानों के पास भी 100 से कम आम के पेड़ नहीं हैं। केवल अलफांसों आम से ही साधारण परिवार की आमदनी भी 6 लाख रुपये सलाना से ज्यादा होती है। जिन 17 गाँवों की जमीन परियोजना में ले ली जायेगी, वहाँ पिछले साल किसानों ने रिकार्ड 54 हजार टन आम बेचा था, जिसका बड़ा हिस्सा विदेशों को निर्यात हुआ। इसके अलावा काजू जैसे मेवे से होने वाली आमदनी का भी हम आसानी से अनुमान लगा सकते हैं। परियोजना के ठीक केन्द्र में पड़ने वाला गाँव आम के साथ-साथ धान का रिकार्ड उत्पादन करने के लिए देश भर में मशहूर है। इसके अलावा पश्चिमी घाट का यह बेहद सुन्दर क्षेत्र मछली उत्पादन और पर्यटन के लिए भी मशहूर है। इस इलाके की अहमियत को एक तथ्य से समझा जा सकता है-- महाराष्ट्र के सकल घरेलू उत्पाद में कोंकण का योगदान 41 प्रतिशत है।

कम्पनियों के मुनाफे के लिए सरकार जो तबाही मचाने वाली है, उसकी कल्पना भयावह है। इस परियोजना के लिए 6 लाख से ज्यादा काजू के पेड़ और 14 लाख से ज्यादा आम के पेड़ काटे जायेंगे। बेशकीमती 20 लाख पेड़ों की लाश पर भला कैसा इतिहास रचा जायेगा? इसके साथ ही सबसे शानदार धान पैदा करने वाली 500 एकड़ जमीन भी इस परियोजना की भेंट चढ़ जायेगी। रिफाइनरी से होने वाले जल, जमीन और हवा के प्रदूषण से पूरे इलाके की बेहद नाजुक जैव विविधता नष्ट हो जायेगी। यहाँ के समुद्री तट पर मछुआरों की छोटी-छोटी नावें नहीं बल्कि कच्चे तेल के दैत्याकार टैंकर तैरेंगे। सुन्दर समुद्री तट पर रंग-बिरंगी मछलियाँ और लहरों से खेलते पर्यटक नहीं बल्कि बदबूदार काला कच्चा तेल और रिफाइनरी का कूड़ा फैला होगा। फिर इस वीराने को देखने कोई सैलानी नहीं आयेगा। अपने पुरखों की इस बेहद खूबसूरत जमीन पर मेहनत मशक्कत करके इज्जत की जिन्दगी जी रहे हजारों मछुवारे, छोटे किसान, छोटे व्यापारी, पर्यटन उद्योग में लगे लोग जीविका की तलाश में महानगरों की नारकीय झुग्गी-झोंपड़ियों में कैद हो जायेंगे। संघर्ष समिति के सचिव सत्यजीत चव्हाण का कहना है कि "पिछली सरकार ने हम पर जैतापुर परमाणु संयंत्र थोपा और यह सरकार रिफाइनरी थोप रही हैं। ये सरकारें हमारी कोंकण की प्राकृतिक सम्पदा और सुन्दरता का नाश क्यों करना चाहती हैं?" कमाल तो यह है कि गाँव वालों के सपने में भी कहीं रिफाइनरी नहीं थी। कुछ समय पहले दूर-दराज के बाहरी अनजान लोगों ने इन गाँवों में जमीन खरीदनी शुरू कर दी थी। केवल 2017 में नाणार और आस-पास के गाँवों में बाहरी लोगों ने 559 एकड़ जमीन खरीदी। जब सरकार ने

जमीन का अधिग्रहण शुरू किया तो इन जमीनों के मालिक तुरन्त ही दो गुने, तीन गुने दामों पर अपनी जमीन बेचने पहुँच गये। इन्हीं की बिक्री के कागज दिखा-दिखाकर सरकार प्रचार कर रही है कि किसान खुशी-खुशी अपनी जमीन सरकार को दे रहे हैं। जबकि स्थानीय लोग किसी भी कीमत पर अपनी जमीन नहीं देना चाहते।

परियोजना का विरोध करने वालों में स्थानीय मछुआरा समुदाय सबसे आगे है। ये लोग भूमिहीन हैं। रिफाइनरी लगने से इनके घर उजड़ जायेंगे। साथ ही आस-पास का समुद्री तट भी प्रदूषित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में अपना परम्परागत पेशा छोड़कर दिहाड़ी मजदूर बनने के अलावा इनके पास कोई और रास्ता नहीं बचेगा।

रिफाइनरी लगाकर इस खुशहाल और मनोहारी इलाके को उजाड़ने की सरकार की जिद के पीछे केवल मुनाफे में थोड़ी बढ़ोतरी का लालच है। साउदी अरामको ने सरकार के साथ करार के समय ही स्पष्ट कर दिया था कि रिफाइनरी के लिए कच्चा तेल सऊदी अरब से मँगाना होगा। समुद्री मार्ग से कोंकण का यह इलाका वहाँ से सबसे नजदीक पड़ता है। इससे ढुलाई में बचत होगी। कच्चे तेल को साफ करके दक्षिणी राज्यों में उसकी आपूर्ति जल मार्ग से करना भी सस्ता पड़ेगा। इसके अलावा सरकार के इशारे पर ही रसूखदार लोगों ने इन गाँवों में जमीन खरीदी थीं, उसे इनकी भी चिन्ता है।

संघर्ष समिति के नेतृत्व में स्थानीय लोगों के एकताबद्ध और उग्र आन्दोलन के चलते अभी तो सरकार को अपने कदम पीछे खींचने पड़े हैं लेकिन इसी के साथ ही शिव सेना और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी जैसी ताकतें भी "रिफाइनरी किसी कीमत पर नहीं लगने देंगे" जैसे नारे लगाते हुए आन्दोलन में घुस आयी हैं। इनका चरित्र स्पष्ट है। ये आन्दोलन की एकता में फूट डालेंगी और किसी मोड़ पर धोखा दे सकती हैं। आन्दोलन का भविष्य इस बात पर निर्भर है कि जनता की एकता कब तक कायम रहती है और नेतृत्व संघर्ष समिति के हाथ में कब तक रहता है।

--प्रवीण

रिलायंस द्वारा ओएनजीसी के गैस भंडार से 30 हजार करोड़ की डकैती

अन्तर्राष्ट्रीय ट्रिब्यूनल में सरकार की हार

1 अगस्त 2018 को आंध्र के कृष्णा-गोदावरी बेसिन में ओएनजीसी के गैस भंडार में सेंध लगाकर रिलायंस द्वारा 30 हजार करोड़ रुपये की प्राकृतिक गैस चुराने के मामले में अन्तरराष्ट्रीय मध्यस्थता पैनल का फैसला आ गया। यह पैनल जो रिलायंस और मोदी सरकार की सहमति से चुना गया था। उसने ओएनजीसी की शिकायत को रद्द कर रिलायंस से 10 हजार करोड़ रुपये का जुर्माना हटा दिया है जो 2016 में जस्टिस एपी शाह आयोग द्वारा रिलायंस को दंडित करने की सिफारिश के चलते सरकार को लगानी पड़ा था। इस पर भी तुर्रा यह कि ट्रिब्यूनल ने आदेश दिया है कि अब सरकार को ही हरजाने के तौर पर लगभग 50 करोड़ रुपये रिलायंस को देने होंगे।

आंध्र प्रदेश की दो प्रमुख नदियाँ कृष्णा और गोदावरी के डेल्टा क्षेत्र में स्थित कृष्णा-गोदावरी (केजी) बेसिन कच्चे तेल और गैस की खान माना जाता है। 1997-98 में सरकार न्यू एक्सप्लोरेशन और लाइसेंस पॉलिसी (नेल्प) लेकर आयी। इस पॉलिसी का मुख्य मकसद तेल खदान क्षेत्र में लीज के आधार पर सरकारी और निजी क्षेत्र की कम्पनियों को एक समान अवसर देना था। इस पॉलिसी से रिलायंस का प्रवेश तेल और गैस के अथाह भंडार वाले इस क्षेत्र में हो गया। रिलायंस ने इन तेल क्षेत्रों में अपना अधिकार बनाना शुरू किया, जहाँ ओएनजीसी पहले से तेल-गैस निकाल रही थी। धीरे-धीरे रिलायंस ने यह कहना शुरू किया कि उसे इस क्षेत्र में करोड़ों घनमीटर प्रतिदिन उत्पादन करने वाले कुएँ मिल गये हैं। इन खबरों से रिलायंस के शेयर आसमान पर जा पहुँचे। 2008 में रिलायंस ने तेल और अप्रैल 2009 में गैस का उत्पादन शुरू किया।

लेकिन हकीकत यह थी कि रिलायंस को अपनी घोषणाओं के विपरीत बेहद कम तेल और गैस इन क्षेत्रों से प्राप्त हो रही थी। पास के क्षेत्र में स्थित ओएनजीसी अपने कुओं से भरपूर मात्रा में तेल-गैस का उत्पादन कर रही थी।

2011 में केजी बेसिन में रिलायंस इंडस्ट्रीज की परियोजना से गैस उत्पादन में गिरावट आयी और सरकार ने रिलायंस को गैर-प्राथमिक क्षेत्रों से गैस की आपूर्ति बन्द करने का आदेश दिया। लेकिन रिलायंस ने इस्पात उत्पादन करने वाले समूहों को साथ में लेकर सरकार पर दबाव बनाना शुरू किया। पेट्रोलियम मंत्रालय और रिलायंस में यह विवाद गहराता चला गया। पेट्रोलियम मंत्रालय का कहना था कि रिलायंस को कैग द्वारा ऑडिट कराना होगा, लेकिन रिलायंस इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसने इस क्षेत्र में अपने वादे

के मुताबिक अरबों करोड़ रुपये का निवेश करने से इनकार कर दिया

रिलायंस कम्पनी ने यह शर्त भी रखी कि लेखा परीक्षा उसके परिसर में होनी चाहिये और इस रिपोर्ट को पीएससी के तहत पेट्रोलियम मंत्रालय को सौंपी जाये, संसद को नहीं। सप्रंग सरकार में भी मुकेश अम्बानी की रिलायंस इतनी पॉवरफुल थी कि कहा जाता था कि मुकेश अम्बानी की मर्जी से पेट्रोलियम मंत्री हटाये और बहाल किये जाते थे।

इस बीच 2013 में रिलायंस और ओएनजीसी के बीच गैस चोरी को लेकर विवाद की थोड़ी-थोड़ी भनक मिलनी शुरू हो गयी थी।

मई 2014 में भारत में लोकसभा के चुनाव हुए थे। अब इस लेख का सबसे महत्त्वपूर्ण हिस्सा आपके सामने आना वाला है वो है इस केस की टाइमिंग। आपको याद होगा कि 16 मई को यह फैसला आने वाला था कि सत्ता किसके हाथ लगने वाली है। भाजपा सरकार बनने से ठीक एक दिन पहले ओएनजीसी ने 15 मई, 2014 को दिल्ली उच्च न्यायालय में एक मुकदमा दायर किया जिसमें यह आरोप लगाया कि रिलायंस इंडस्ट्रीज ने उसके गैस ब्लॉक से हजारों करोड़ रुपये की गैस चोरी की है।

ओएनजीसी का कहना था कि रिलायंस ने जानबूझकर दोनों ब्लॉकों की सीमा के बिलकुल करीब से गैस निकाली, जिसके चलते ओएनजीसी के ब्लॉक की गैस आरआईएल के ब्लॉक में आ गयी।

ओएनजीसी के चेयरमैन डीके सर्राफ ने 20 मई 2014 को अपने बयान में कहा कि ओएनजीसी ने रिलायंस इंडस्ट्रीज के खिलाफ जो मुकदमा दायर किया है, उसका मकसद अपने व्यावसायिक हितों की सुरक्षा करना है क्योंकि रिलायंस की चोरी के चलते उसे लगभग 30,000 करोड़ रुपये का नुकसान हुआ है।

लेकिन चिड़िया खेत चुग चुकी थी और रिलायंस की मनचाही सरकार बन चुकी थी लिहाजा अपर हैंड अब रिलायंस का ही था।

23 मई, 2014 को एक बयान में रिलायंस इंडस्ट्रीज ने कहा कि "हम केजी बेसिन से कथित तौर पर गैस की 'चोरी' के दावे का खण्डन करते हैं। सम्भवतः यह इस वजह से हुआ कि ओएनजीसी के ही कुछ तत्वों ने नये चेयरमैन और प्रबन्ध निदेशक सर्राफ को गुमराह किया जिससे वे इन ब्लॉकों का विकास न कर पाने की अपनी विफलता को छुपा सकें।"

लेकिन यह बात महत्त्वपूर्ण है कि 15 मई 2014 को ओएनजीसी ने जो केस दिल्ली हाईकोर्ट में दाखिल किया था। वह एक ऐतिहासिक केस था क्योंकि ओएनजीसी ने रिलायंस पर तो चोरी का आरोप लगाया ही था, उसने सरकार को भी आड़े हाथों लिया था। ओएनजीसी का कहना था कि डीजीएच और पेट्रोलियम मंत्रालय द्वारा निगरानी नहीं किये जाने के कारण ही रिलायंस ने यह चोरी की।

ओएनजीसी (तीसरा पक्ष) कह रहा था कि रिलायंस (पहला पक्ष) और सरकार (दूसरा पक्ष) ने मिलकर इस डकैती को अंजाम दिया है।

लेकिन ओएनजीसी को 9 दिन के अन्दर ही अपनी औकात मोदी सरकार ने याद दिला दी। सरकार ने 23 मई को रिलायंस, ओएनजीसी और पेट्रोलियम मंत्रालय के अधिकारियों की एक बैठक करवायी और सबने मिलकर इस मामले के अध्ययन के लिए एक समिति बनाने का निर्णय लिया जिसमें रिलायंस और सरकारी प्रतिनिधि शामिल थे।

समिति ने मामले की जाँच का ठेका दुनिया की जानी-मानी सलाहकार कम्पनी डिगॉलियर एण्ड मैकनॉटन (डीएण्डएम) को दिया।

डीएण्डएम ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि ओएनजीसी के ब्लॉक से आरआईएल के ब्लॉक में 11,000 करोड़ रुपये की गैस गयी है। दूसरे, उसने यह सलाह भी दे डाली कि इन ब्लॉकों में बची गैस को रिलायंस से ही निकलवा लिया जाये जो इस काम को करने में माहिर है।

इस रिपोर्ट पर निर्णय देने के लिए मोदी सरकार ने न्यायमूर्ति (सेवानिवृत्त) एपी शाह समिति का गठन किया। समिति का काम इस मामले में हुई भूल-चूक देखना और ओएनजीसी के मुआवजे के बारे में सिफरिश करना था।

शाह समिति ने इस मामले में स्पष्ट रूप से कहा कि मुकेश अम्बानी की अगुवाई वाली रिलायंस इंडस्ट्रीज को ओएनजीसी के क्षेत्र से अपने ब्लाक में बहकर या खिसक कर आयी गैस के दोहन के लिए उसे सरकार को 1.55 अरब डॉलर भुगतान करना चाहिए। रिपोर्ट के मुताबिक रिलायंस अनुचित तरीके से फायदे की स्थिति में रही है।

रिलायंस द्वारा इस फैसले को मानने से इनकार करते हुए अन्तरराष्ट्रीय पंचाट में जाने के निर्णय को मोदी सरकार ने स्वीकार कर लिया जिसमें आये फैसले ने देश की जनता को सदा के लिए महँगे दामों पर गैस खरीदने पर अब मजबूर कर दिया है।

इस फैसले के तीन-चार दिन पहले प्रधानमंत्री मोदी ने उत्तर प्रदेश में कथित रूप से हजारों करोड़ रुपये की विकास व निवेश परियोजनाओं की नींव रखते हुए कहा था कि "अगर नेक नीयत हो तो उद्योगपतियों के साथ खड़े होने में दाग नहीं लगता।" उन्होंने यह भी कहा था कि पूँजीपतियों ने देश की तरक्की में हिस्सेदारी की है। क्या हम उन्हें चोर-उचक्का कहें?

रिलायन्स के बेदाग बचने से किस पर दाग लगा, यह सोचने वाली बात है।

--गिरीश मालवीय

भीड़ का हमला या संगठित हिंसा?

--मोहित सावरिया

देश भर में गौ-तस्करी, गौमांस रखने और बच्चा चोरी के शक में भीड़ द्वारा हमले (मॉब लिंचिंग) की घटनाएँ बढ़ रही हैं। इण्डिया स्पेंड की रिपोर्ट के अनुसार साल 2010 से अब तक केवल गौहत्या या गौमांस रखने के शक में भीड़ के 86 हमले हो चुके हैं, जिनमें से 98 फीसदी हमले साल 2014 में बीजेपी के सत्ता में आने के बाद हुए हैं। इनमें मारे गये 33 लोगों में से 29 लोग यानी 88 फीसदी मुस्लिम हैं।

27 जुलाई 2018 की 'द वायर' की रिपोर्ट के अनुसार राष्ट्रीय मानवधिकार आयोग ने राजस्थान सरकार को अलवर मॉब लिचिंग मामले में नोटिस भेजा है। यह घटना 21जुलाई की है। रकबर हरियाणा के मेवात जिले के कोलगाँव के रहने वाले थे। उनकी उम्र 28 साल थी। उनके परिवार में बूढ़े पिता, पत्नी और बच्चे थे। उन्होंने गाय पाल रखी थी, जिसके दूध से घर का खर्च चलता था। इसीलिए वे अपने दोस्त असलम के साथ राजस्थान के अलवर जिले में गये थे। उसके बाद वे अलवर जिले के रामगढ़ से दो गायें खरीदकर लालवंडी गाँव से होकर गुजर रहे थे, उसी दौरान गौरक्षकों ने भीड़ की आड़ में उन पर हमला कर दिया। असलम तो उस बहशी गौरक्षकों की भीड़ से भागने में सफल रहा लेकिन रकबर को उन्होंने पीट-पीटकर बुरी तरह लहू-लुहान कर दिया। पिटाई के दौरान उसकी छाती की पसली और हाथ-पैर की हड्डियाँ टूट गयीं। घटना के कुछ देर बाद वहाँ पुलिस पहुँची। पुलिस ने आते ही रकबर को अस्पताल पहुँचाने के बजाय सबसे पहले गायों को गौशाला भेजने की व्यवस्था की। उसके बाद रकबर को अस्पताल पहुँचाया गया। तब तक काफी देर हो चुकी थी। कुछ ही देर बाद डॉक्टरों ने उसे मृत घोषित कर दिया। पुलिस की संवेदना इन्सान से ज्यादा एक गाय के साथ थी। जबकि गायें सुरक्षित खड़ी थीं और रकबर मरणासन्न स्थिति में पड़ा हुआ था। रकबर के घरवालों ने तब तक उसके शव को दफनाने से इनकार कर दिया जब तक कि सरकार की ओर से उचित कार्रवाई का वादा नहीं किया जाता। इस दबाव में पुलिस ने 3 आरोपियों को गिरफ्तार किया। बीजेपी के विधायक ज्ञान देव आहूजा ने आरोपियों को बचाने के लिए लालवंडी गाँव में अभियान चलाया। वहाँ उन्होंने भड़काऊ भाषण दिया और जनता को हिन्दू-मुस्लिम में बाँटने की घिनौनी चाल चली।

16 मार्च 2018 की 'बीबीसी हिन्दी' की खबर के अनुसार पिछले साल 29 जून को झारखंड राज्य के निवासी अलीमुद्दीन अंसारी अपनी गाड़ी से कहीं जा रहे थे। उसी दौरान रामगढ़ में गौरक्षकों की भीड़ ने उन पर हमला कर दिया। उन्हें दौड़ा-दौड़ाकर मारा जाने लगा। उनकी गाड़ी को आग के हवाले कर दिया। उसके बाद पुलिस वहाँ पहुँची और उन्हें अस्पताल पहुँचाया गया। कुछ ही देर बाद वहाँ उनकी मौत हो गयी। पुलिस ने 11 गौरक्षकों को गिरफ्तार किया। उसके तुरन्त बाद बीजेपी के पूर्व विधयाक शंकर चौधरी ने आरोपियों को बचाने के लिए 'रामगढ़ बन्द' का एलान किया। भाजपा के नेताओं ने पुलिस पर आरोपियों को छोड़ने के लिए दबाव बनाया। यहाँ तक कि बीजेपी के सांसद और केन्द्रीय मंत्री जयंत सिन्हा ने आरोपियों को बचाने के लिए एक वकील मुहैया कराया। अन्त में कोर्ट ने सभी आरोपियों को आजीवन कारावास की सजा सुनाई। हाई कोर्ट में अपील के बाद 8 आरोपियों को जमानत पर रिहा कर दिया गया। उसके बाद मंत्री जयंत सिन्हा ने आठों आरोपियों को अपने निवास पर दावत दी। मंत्री ने माला पहनाकर आरोपियों को सम्मान किया। बाद में देश भर में इस घटना को लेकर मंत्री जी की भर्त्सना होने लगी। इस किरकिरी के बाद उन्होंने माफी माँग ली।

5 जुलाई 2018 की इंडियन एक्सप्रेस की रिपोर्ट के अनुसार, 11 जिलों के पुलिस अधीक्षकों के अनुसार मॉब लिचिंग की अधिकांश घटनाओं में पीड़ित स्थानीय निवासी नहीं थे। 5 जुलाई की ही 'आज तक' अखबार की एक रिपोर्ट के अनुसार महाराष्ट्र में पिछले 25 दिनों में मॉब लिचिंग की 14 घटनाओं में 11 लोगों की मौत हो चुकी है। आँकड़ों से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि पूरा देश बुरी तरह मॉब लिचिंग की घटनाओं से सुलग रहा है। इसके बावजूद तेलंगाना से बीजेपी विधायक टी राजा सिंह ने बयान दिया है कि जब तक गाय को 'राष्ट्र माता' का दर्जा नहीं दिया जायेगा तब तक मॉब लिचिंग की घटनाएँ नहीं रुकेंगी। विधायक जी के बयान से हम समझ सकते हैं कि यह कोई आम भीड़ नहीं है, पहले से तैयार भीड़ है, उसका शिकार भी सुनियोजित होता है। नेताओं के ऐसे भड़काऊ बयान आने के बाद भी सरकार अगर नेताओं पर पर कार्रवाई नहीं करती है तो समझा जा सकता है कि इन सबके पीछे कौन है?

सरकार में शामिल मंत्री और सत्ताधारी पार्टी के नेता मॉब लिचिंग के आरोपियों को सजा दिलवाने के बजाय उनका उत्साह बढ़ाते हैं। लगभग दो साल पहले दादरी में अखलाक को बहशी भीड़ ने पीट-पीट कर मार दिया था। इस मामले में भी पुलिस ने लगातार आरोपियों को बचाया लेकिन लोगों के जबरदस्त विरोध के बाद 15 आरोपियों को पकड़ा गया। 15 अक्तूबर 2017 के अखबार 'आज तक' के अनुसार बीजेपी विधायक तेजपाल सिंह ने आरोपियों को सरकारी कम्पनी नेशनल थर्मल पावर कॉरपोरेशन (एनटीपीसी) में ठेके पर नौकरी दिलवायी। दरअसल मुख्य आरोपी विधायक का भाई है। हिन्दुत्ववादी नेताओं ने समाज में ऐसी सोच को बढ़ावा दिया है जिसमें मुस्लिम या दलितों को मारना कोई गुनाह नहीं है बल्कि इससे नौकरी भी मिल सकती है। वहीं दूसरी तरफ पीड़ित परिवार की कोई चिन्ता नहीं होती। क्योंकि पीड़ित परिवार की इतनी गलती है कि वह मुस्लिम या दलित समुदाय से होता है।

2018 में बच्चा चोरी करने के शक में भीड़ ने 66 हमले किये जो पिछले साल के मुकाबले 8 गुना ज्यादा हैं। पिछले साल झारखण्ड राज्य के जमशेदपुर में कुछ लोग दो गाड़ियों में बैठकर कहीं जा रहे थे। तभी अचानक भीड़ ने बच्चा चोर के शक में उन पर हमला कर दिया। वे लोग लगातार गिड़गिड़ा रहे थे कि हम बच्चा चोर नहीं हैं लेकिन भीड़ ने उनकी एक न सुनी। धीरे-धीरे भीड़ ने 7 लोगों को मौत के घाट उतार दिया। आज इनसानी जिन्दगी को कुछ नहीं समझा जा रहा है। इस घटना ने इनसानी संवेदना को खत्म कर दिया। राष्ट्रीय मानवधिकार आयोग ने मामले का संज्ञान लेते हुए झारखण्ड सरकार को नोटिस भेजा।

मॉब लिचिंग की घटनाओं का सिलसिला बढ़ता जा रहा है। अब तक मॉब लिचिंग के कारण सैंकड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। संसद में विपक्ष के सवाल के जवाब में गृहमंत्री राजनाथ सिंह ने कहा कि पीड़ित व्यक्ति की सुरक्षा की जिम्मेदारी केवल राज्य सरकारों की है, केन्द्र सरकार की नहीं। सबसे बड़ी मॉब लिचिंग तो 1984 में हुई थी। क्या गृहमंत्री जी दंगे और मॉब लिचिंग में फर्क करके नहीं देखते? हालाँकि दंगे में भी लोग मारे जाते हैं और मॉब लिचिंग में भी। जिस तरह से दंगे प्रायोजित होते हैं, उसी तरह मॉब लिचिंग प्रायोजित होती है। लेकिन सबसे जरूरी है इनसानी जिन्दगी की सुरक्षा जो न तो दंगों में मिलती है और न ही मॉब लिचिंग में। जबकि मॉब लिचिंग और दंगों में बड़ा अन्तर है। दंगे में दो समुदाय आमने-सामने लड़ते हैं। दोनों समुदायों का खून बहता है। लेकिन मॉब लिचिंग में प्रायोजित भीड़ मुस्लिम समुदाय के गरीब व्यक्ति या व्यक्तियों के छोटे समूह पर हमला करती है, जिसमें उन्मादी और प्रायोजित भीड़ हमेशा सुरक्षित रहती है और इस काम में प्रशासन भी सहयोग देता है। दंगे की तुलना में मॉब लिचिंग के जरिये वोट बैंक की राजनीति कहीं अधिक सफल है। इसमें वोटों की खूब बारिश होती है।

ऐसा नहीं है कि इससे पहले भीड़ के हमले और बलात्कार की घटनाएँ नहीं होती थीं। लेकिन पहले कोई नेता आरोपियों के पक्ष में खड़ा नहीं होता था। वे इस बात से डरते थे कि कहीं ऐसा न हो कि जनता में हमारी छवि खराब हो जाये। लेकिन पिछले कुछ सालों से सत्ताधारी पार्टी के नेता आरोपियों के पक्ष में खड़े ही नहीं रहते बल्कि उन्हें बचाते भी हैं। सिलसिला यहीं तक नहीं रुकता, उसके बाद आरोपियों को सम्मान, पद-प्रतिष्ठा और नौकरी दी जाती है। इसके ताजा उदाहरण हैं-- दादरी के अखलाक मॉब लिचिंग केस में सभी आरोपियों को नौकरी दी गयी। दूसरा, उन्नाव गैंगरेप केस में आरोपी बीजेपी विधयाक के पक्ष में अभियान चलाया गया और उसकी तरफ से लड़ रहे वकील को ऊँचा पद दिया गया।

पिछले कुछ सालों की घटनाओं पर गौर करें तो ऐसा लग रहा है जैसे सत्ताधारी पार्टी के नेता लोगों की भीड़ को खास मकसद के लिए तैयार करते हैं और उन्हें हमले के लिए उकसाते हैं। हमला करने पर अपराधियों को प्रशासन से बचा लिया जाता है और आर्थिक मदद या नौकरी दिलवा दी जाती है। नेताओं और आरोपियों में कोई फर्क नजर नहीं आता। असल में नेता अपराधियों से कम नहीं हैं। दरअसल मौजूदा संसद में 541 सांसदों में से 186 सांसदों पर गम्भीर मुकदमे हैं, जिनमें मुख्य रूप से हत्या, बलात्कार, भ्रष्टाचार आदि के मामले हैं। सबसे ज्यादा मुकदमे भाजपा के सांसदों पर हैं।

मॉब लिंचिंग मामले में प्रधानमंत्री की चुप्पी भी बहुत कुछ बोलती है और इससे अपराधियों के हौसले बुलन्द हैं। भाजपा का मकसद केवल चुनाव जीतना भर है। इसलिए वह पूरी कोशिश करती है कि ऐसे मुद्दों से केवल जनता का ध्रुवीकरण किया जाये, जिससे सत्ता में आने के लिए वोट बैंक मजबूत हो सके। दरअसल नेता देश की सामन्ती मूल्य-मान्यताओं जैसे जातिवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता, अवैज्ञानिक विचार आदि का फायदा उठाते हैं। इसीलिए ये कोई साधारण हमले नहीं हैं बल्कि नफरत फैलाने की संगठित मुहिम है। ऐसी घटनाएँ बेहद निन्दनीय हैं।

जब से भाजपा सत्ता में आयी है तब से हिन्दुओं को भड़काया जा रहा है। ऐसी अफवाह उड़ायी जा रही है कि गौमाता असुरक्षित हैं। इन सबका कारण मुस्लिम समुदाय के लोग हैं। जबकि भाजपा के लोग जिन्हें ये गौमाता कहते हैं उनकी ही गौशाला में आये दिन गायों के मरने की खबरें आती रहती हैं। सड़कों पर उन्हें कचरा खाने के लिए आवारा छोड़ दिया गया है। क्या यही गौमाता के प्रति असीम प्रेम है? दरअसल नफरत की भावना फैलाने

वाले लोग न हिन्दुओं के हैं हितैषी न मुसलमानों के। बल्कि वे सत्ता की मलाई खाने वाले लोग हैं जो देशी-विदेशी पूँजीपतियों के इशारे पर काम करते हैं।

मॉब लिचिंग की घटनाओं को खाद-पानी देने का काम भारतीय मीडिया कर रहा है। मीडिया ने पूरे देश में मुसलमानों की नकारात्मक छवि बनायी है। सत्ताधारी वर्ग के साथ मीडिया का गठजोड़ है। इसीलिए आज दोनों पर निर्दोष लोगों की हत्या के खून के छींटे लगे हुए हैं, जो कभी नहीं धुलेंगे।

मॉब लिचिंग की बढ़ती घटनाओं के कारण दुनिया भर में भारत की बदनामी हो रही है। मॉब लिचिंग की घटनाओं को विदेशी मीडिया ने जोरशोर से उठाया है। 'द गार्जियन' ने रकबर की हत्या की खबर का शीर्षक दिया, "भीड़ के हमले में घायल शख्स की मदद से पहले भारतीय पुलिस ने चाय पी।" 'द न्यूयोर्क टाइम्स' ने केन्द्रीय मंत्री जयंत सिन्हा द्वारा अलीमुद्दीन अंसारी के हत्यारों को माला पहनाने पर लिखा, "नफरत के नशे में भारतीय नेता ने जान लेने वाली भीड़ का सम्मान किया।" 'द सन' अखबार ने असम में भीड़ द्वारा दो लोगों की हत्या को अपनी खास खबर बनाया। आज किसी व्यक्ति को इसलिए मौत के घाट उतार दिया जाता है क्योंकि उसके खाने-पीने और जिन्दगी जीने के रीति-रिवाज एक समुदाय से मेल नहीं खाते। सत्ताधारी वर्ग ने कुछ लोगों को उन्मादी और बहशी भीड़ में तब्दील कर दिया है। उन्हें पहले से प्रायोजित नफरत के युद्ध में झोंक दिया है।

यदि आज हम अपने विवेक पर जोर नहीं देते और इस बहशीपन के खिलाफ लड़ाई नहीं लड़ते तो हमारी भावी पीढ़ियाँ पागल और विक्षिप्त पैदा होंगी।

O

सरकारी विभागों में ठेका कर्मियों का उत्पीड़न

--गौरव तोमर

वित्त मंत्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार देश के सभी सरकारी विभागों में 20 से 50 प्रतिशत तक पद खाली हैं। इनमें मुख्यतः शिक्षा, स्वास्थ्य, पुलिस, फौज, न्यायपालिका आदि विभाग शामिल हैं। यानी सरकारी विभागों में जितनी भर्तियों की जरूरत है, उतनी भी पूरी नहीं हो रही हैं। बल्कि जो भर्तियाँ जैसे-तैसे हो भी रही हैं, उन्हें किसी न किसी बहाने से रद्द कर दिया जा रहा है। दूसरी तरफ नेताओं के बयान आते रहते हैं कि हम इतने लोगों को रोजगार नहीं दे सकते, क्योंकि देश में नौकरियाँ नहीं हैं। सरकार नौजवानों को नौकरी देना नहीं चाहती। जिसके चलते लाखों नौजवानों को बेरोजगारी का दंश झेलना पड़ रहा है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की 25 नवम्बर, 2014 की रिपोर्ट के अनुसार प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा के सरकारी शिक्षण संस्थानों में जितने अध्यापकों और कर्मचारियों की जरूरत है उतने भी नहीं हैं। आईआईटी, आईआईएम, एनआईटी जैसे शिक्षण संस्थानों और केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की कुल स्वीकृत पद 20,532 हैं। इनमें से 9,475 पद यानी 46 प्रतिशत पद खाली हैं। जब देश के सबसे उच्च शिक्षण संस्थानों में अध्यापक ही नहीं होंगे तो क्या वहाँ पढ़ने वाले छात्रों की गुणवत्ता में कमी नहीं आयेगी? फिर हमारे छात्र कैसे नयी-नयी खोजें कर सकते हैं? क्या वे बढ़िया डॉक्टर, इंजीनियर बन पायेंगे?

राज्य स्तरीय उच्च शिक्षण संस्थानों की हालत और भी खराब है। राजस्थान के 9 सरकारी इंजीनियरिंग कॉलेजों में 1080 अध्यापकों के पद हैं। लेकिन वहाँ पर केवल 590 अध्यापक ही नियुक्त किये गये हैं। अभी 490 स्थायी अध्यापकों की जरूरत है। यही हाल उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के शिक्षण संस्थानों का है। अध्यापकों के सबसे ज्यादा खाली पदों के मामले में हरियाणा विश्वविद्यालय पहले पायदान पर है। वहाँ 75 प्रतिशत अध्यापकों की कमी है। दूसरे पायदान पर इलाहबाद विश्वविद्यालय है, वहाँ 64 प्रतिशत अध्यापकों के पद खाली हैं और फिर दिल्ली विश्वविद्यालय है, वहाँ 55 प्रतिशत अध्यापकों के पद खाली हैं। यही स्थिति अन्य विश्वविद्यालयों की है।

प्राथमिक शिक्षा की बात करें तो केवल उत्तर प्रदेश के प्राइमरी स्कूलों में ही अध्यापकों के 1 लाख 60 हजार पद खाली हैं। प्राथमिक स्कूलों में अध्यापकों की कमी को पूरा करने के लिए शिक्षामित्रों की भर्ती की जाती है। उत्तर प्रदेश पुलिस विभाग में सहायता करने वाले होमगार्डों की संख्या एक लाख से अधिक है, जिनकी नियुक्ति ठेके पर होती है। आज ऐसा कोई भी सरकारी विभाग नहीं रह गया है जिसमें कर्मचारी, गार्ड, माली, सुपरवाइजर, इंजीनियर, डॉक्टर, अध्यापक आदि की नियुक्ति ठेके पर न होती हो।

ठेके पर रखने वाली संस्था के अनुबन्ध पत्र में कई असमान शर्तें होती हैं। केवल कॉलेज का उदाहरण लेकर चलें तो पहली शर्त यह होती है कि किसी भी अध्यापक को एक सेमेस्टर तक नौकरी पर रखा जाता है। यानी नियुक्ति अस्थाई होती है। 6 महीने के सेमेस्टर में नौकरी का अनुबन्ध पत्र लगभग 5 महीने का होता है। मतलब उन्हें 5 महीने के लिए ही नौकरी पर रखा

जाता है। यदि अतिथि अध्यापक अपने अध्यापन कार्य में ठीक पाया जाता है तो उसे अगले सेमेस्टर में नियुक्त करने के लिए विचार किया जा सकता है। नहीं तो उसकी जगह किसी दूसरे अतिथि अध्यापक को 5 महीने के लिए रखा जा सकता है। जब कोई अध्यापक नौकरी से निकाल दिया जाता है तो वह अपने परिवार का खर्च भी नहीं चला पाता। ऐसी हालत में बीमार होने पर इलाज भी नहीं करवा पाता। सरकार को उस अध्यापक और उसके परिवार की कोई चिन्ता नहीं। उसके भविष्य का क्या होगा? यह सरकार कभी नहीं सोचती है। जबकि सरकारी संस्था में स्थायी अध्यापक को बीमारी के दौरान भी आर्थिक सहूलियत मिल जाती है। रिटायर होने के बाद लाखों रुपयों का फण्ड मिल जाता है। मतलब एक सरकारी अध्यापक का भविष्य सुरक्षित होने की गारण्टी होती है लेकिन अतिथि अध्यापक की नहीं, जबकि दोनों एक ही काम करते हैं।

ठेके पर रखने की एक शर्त वेतन से सम्बन्धित होती है। पॉलीटेकनिक कॉलेज में ठेके पर नियुक्ति के लिए अधिकतम वेतन 12,000 रुपये होता है। जबकि सरकारी अध्यापक का वेतन 40,000 से 70,000 रुपये तक होता है। एक सरकारी अध्यापक का वेतन अतिथि अध्यापक के वेतन के मुकाबले 5 गुना अधिक है जबकि दोनों की योग्यता समान हैं और उनके काम भी समान हैं। बल्कि कई बार अतिथि अध्यापक को अपने लेक्चर के साथ, सरकारी अध्यापक के लेक्चर भी लेने पड़ते हैं। प्रयोग कराने के लिए लैब असिस्टेंट नहीं रखा जाता इसलिए लैब का काम भी अतिथि अध्यापक को ही सम्भालना होता है। वह संस्था का पेपर वर्क (फार्म भरना, प्रवेश पत्र बाँटना आदि) भी करता है। इतना सब करने के बाद वेतन भी उसे समय से नहीं मिलता। कभी 15 दिन लेट, कभी 1 महीने तो कभी 3 महीने लेट मिलता है। वह शिकायत भी नहीं कर सकता क्योंकि शिकायत करने पर हो सकता है, उसे अगली बार नौकरी पर न रखा जाये। सेमेस्टर के बीच में स्थायी अध्यापक की नियुक्ति के बाद अतिथि अध्यापक को नौकरी से निकाल दिया जाता है।

ठेके पर रखने की एक शर्त यह भी है कि अतिथि अध्यापक को किसी भी तरह का विशेष अवकाश प्रदान नहीं किया जायेगा। अतिथि अध्यापक के किसी भी कारण से जैसे जरूरी काम से बाहर जाने पर, बीमार होने पर या किसी सगे-सम्बन्धी की मृत्यु हो जाने की स्थिति में अवकाश लेने पर प्रतिदिन के हिसाब से उसका वेतन काट लिया जाता है। जबकि संस्था के किसी काम से रविवार को या छुट्टी के दिन बुलाने पर या संस्था में निर्धारित समय से ज्यादा काम करने पर, उसे अतिरिक्त वेतन नहीं मिलता। उस काम की क्षतिपूर्ति के लिए अवकाश भी नहीं दिया जाता है। हाँ, अगर मिलती है तो संस्था की तरफ से धमकी। नौकरी से निकालने की और नकारा या कामचोर होने का इनाम। क्या गुरुओं की ऐसी दयनीय स्थिति को देखते हुए हम विश्वगुरु होने का दम भर सकते हैं? क्या अतिथि अध्यापक के साथ सरकार का ऐसा व्यवहार उचित है?

सरकारी विभागों में अधिकतर कर्मचारियों की उम्र रिटायरमेंट के करीब है। प्रत्येक विभाग में हर साल कई कर्मचारी रिटायर होते हैं, उनकी जगह खाली हो जाती है, लेकिन कोई दूसरी स्थायी नियुक्ति नहीं की जाती है। रिटायर हुए व्यक्ति का काम का बोझ भी ठेका कर्मचारी के ऊपर आ जाता है। एक ठेका कर्मचारी 2-3 सरकारी कर्मचारियों के बराबर काम करता है। उसके बावजूद उसकी स्थायी नियुक्ति नहीं होती है। आखिरकार, सरकार स्थायी नियुक्ति क्यों नहीं कर रही है? दरअसल सरकार अस्थायी कर्मियों के जीवन-यापन की किसी भी तरह की जिम्मेदारी निभाना नहीं चाहती है। सरकार चाहती है उसके विभागों को निजी हाथों में सौंप दिया जाये। इसलिए सरकार ने उन विभागों में नियुक्तियों पर रोक लगा दी है। निजी हाथों में सौंपने के लिए सरकार के बहाने होते हैं कि सरकारी विभाग में क्षमता नहीं है, वे अयोग्य हैं। सरकार का आज कोई भी विभाग ऐसा नहीं है जहाँ अप्रत्यक्ष निजीकरण न हो। ठेका भर्ती चोर दरवाजे से निजीकरण ही है।

सरकार ठेके पर नियुक्त अध्यापकों को अतिथि नाम देती है। लेकिन संस्था में अतिथि अध्यापक से 'कोल्हू के बैल' की तरह काम लिया जाता है। फिर भी वह अपने शोषण के खिलाफ अपनी आवाज न ही संस्था में उठा सकता है और न ही सरकार के सामने। क्योंकि सरकार ने उसे ऐसे नियम-कानूनों में बाँध दिया जिनसे वह चाहकर भी बाहर नहीं निकल सकता। दरअसल सरकार ने अस्थायी कर्मियों को बन्धुआ मजदूर में तब्दील कर दिया है। जहाँ अपना काम करने के साथ, मालिक की बेगारी भी करनी पड़ती है।

सरकार लगातार सार्वजानिक निगमों को देशी-विदेशी पूँजीपतियों को बेच रही है। वह चाहती है कि शिक्षा, बैंक, डाक, परिवहन, स्वास्थ्य, न्यायपालिका, पुलिस-फौज, बिजली आदि विभागों को पूँजीपति सम्भालें। पूँजीपति का उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा मुनाफा कमाना होता है। इसकी पहली शर्त है कि वह अपने कर्मचारी से कम से कम वेतन में ज्यादा से ज्यादा काम करवाये। दूसरी शर्त होती है कि उसके पास अच्छी गुणवत्ता की एडवांस तकनीक हो, जिससे वह कम समय में, कम से कम कर्मचारियों को नौकरी पर रखकर पहले से ज्यादा काम करा सके। इससे बेरोजगारी तेजी से बढ़ती है और उतनी ही तेजी से पूँजीपतियों की तिजोरी भरती है। जनता भुखमरी-कंगाली के गर्त में पहुँचती जाती है। विश्व व्यापार संगठन की शर्तों के आगे घुटने टेकने के बाद सरकारी खर्चों में कटौती के नाम पर सभी विभागों में छँटनी, तालाबन्दी और ठेका प्रथा लागू हो रही है। जिसकी मार देश की युवा पीढ़ी झेल रही है। दूसरी ओर सरकार अपनी सुख-सुविधाओं और वेतन-भत्ते में कटौती तो दूर, उसमें बढ़ोतरी का कोई मौका हाथ से निकलने नहीं देती।

पेट्रोल और डीजल के बढ़ते दाम

--अमरपाल

पहले जब अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल की कीमत बढ़ती थी तो भारत में पेट्रोल और डीजल के दाम बढ़ जाते थे और घटने पर घट जाते थे। लेकिन अब ऐसा नहीं होता है, अन्तरराष्ट्रीय स्तर में पर दाम बढ़े या घटे दोनों ही सूरतों में तेल के दाम लगाकर बढ़ते जा रहे हैं। देश में पेट्रोल 84 रुपये प्रति लीटर और डीजल भी लगभग 73 रुपये प्रति लीटर तक पहुँच गया है। आज अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कच्चा तेल 75 डॉलर प्रति बैरल है। जुलाई 2008 में जब कीमत 147 डॉलर प्रति बैरल थी तब उस समय देश में पेट्रोल 50.62 रुपये और डीजल 34.86 रुपये प्रति लीटर था।

अर्थव्यवस्था को चलाने के लिए तेल बहुत ही जरूरी है। बढ़े हुए तेल के दामों ने अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों को अपनी चपेट में ले लिया है जिससे समाज के सभी तबके प्रभावित हुए हैं। लेकिन इस महँगाई के खिलाफ आज जनता में कोई गुस्सा नजर नहीं आ रहा है। पेट्रोल-डीजल के दामों में बेतहाशा बढ़ोतरी पर अर्थशास्त्री, राजनेता और पूँजीपति चुप हैं? पेट्रोल-डीजल इतने महँगे क्यों हैं? इसके जवाब में सरकार अजीबोगरीब बातें कहती है। भाजपा जब विपक्ष में थी तो पेट्रोल-डीजल के बढ़ते दाम के खिलाफ कांग्रेस सरकार को संसद में घेरती थी, सड़कों पर धरना-प्रदर्शन करती थी। 2008 में कांग्रेस सरकार ने 4 साल बाद जब तेल के दाम बढ़ाये थे तो भाजपा ने कांग्रेस सरकार को आर्थिक आतंकवाद फैलाने का आरोप लगाया था। लेकिन आज जब भाजपा की सरकार है तो इसके मन्त्री धर्मेन्द्र प्रधान कहते हैं कि पेट्रोलियम कम्पनियाँ पेट्रोल-डीजल के दाम तय करने के लिए आजाद हैं और सरकार तेल कम्पनियों के काम में दखल नहीं देगी। 16 जून 2017 को केन्द्र सरकार ने तेल कम्पनियों को रोज तेल के दाम कम-ज्यादा करने की छूट दे दी। तब से मई 2018 तक कम्पनियों ने 339 दिनों में 193 बार दाम बढ़ाया। सरकार उत्पाद शुल्क में किसी कटौती के खिलाफ हैं क्योंकि उसे यह डर सता रहा है कि तेल के उत्पाद शुल्क में 1 रुपये प्रति लीटर की कमी से सरकारी खजाने पर 140 रुपये का बोझ पड़ेगा।

पेट्रोल-डीजल इतना महँगा क्यों है? सरकार ने पेट्रोल-डीजल के दाम तय करने का एक अलग ही फार्मूला बनाया है। जिसे आयात समानता मूल्य (इम्पोर्ट पैरिटी प्राइस) कहते हैं। भारत कच्चा तेल दूसरे देशों से खरीदता है। पेट्रोल देश की रिफाइनरी में तैयार किया जाता है। उस पर कितना खर्चा आता है, सरकार उससे पेट्रोल के दाम तय नहीं करती है। उसके हिसाब से अगर पेट्रोल-डीजल दूसरे देश से मँगाया जाये तो उसके दाम में अन्तरराष्ट्रीय बन्दरगाह का खर्च, जहाज से भारत लाने का खर्च, इश्योरेंस, कस्टम ड्यूटी और भण्डारण का खर्चा शामिल होगा। लेकिन यह सब खर्चे काल्पनिक हैं क्योंकि भारत पेट्रोल-डीजल नहीं बल्कि कच्चा तेल आयात करता है। इसलिए इम्पोर्ट पैरिटी प्राइस से सरकार ने पेट्रोल का दाम 84 रुपये तय किया है, वह ठीक नहीं है क्योंकि यह वास्तविक दाम से बहुत अधिक है।

पेट्रोल का दाम तय करने का एक फार्मूला सरकारी कमेटी ने भी दिया था और इस कमेटी ने बताया कि अगर कच्चा तेल 30 डॉलर प्रति बैरल है तो रिफाइनरी से आने वाले पेट्रोल का दाम 13.44 रुपये प्रति लीटर होगा न कि 26.65 रुपये प्रति लीटर और अगर आयात 90 डॉलर प्रति बैरल है तो यह 22.33 रुपये प्रति लीटर होगा, इस फार्मूले से पेट्रोल-डीजल बहुत सस्ता हो जाता है लेकिन सरकार ने इस फार्मूले को रद्दी की टोकरी में फेंक दिया। इसकी जगह पेट्रोल इम्पोर्ट पैरिटी प्राईस वाले फार्मूले को ही चला रही है। जब पेट्रोल आयात ही नहीं किया जाता तो फिर यह फार्मूला क्यों लगाया जा रहा है? इस फार्मूले से सरकार लोगों को गुमराह करके आसानी से पेट्रोल के दाम बढ़ा देती है। एक बात और, क्या कच्चे तेल से सिर्फ पेट्रोल और डीजल ही निकलता है? नहीं। इसे रिफाइन करते समय एटीएफ (जैट फ्यूल), नेफ्था, वाईट पेट्रोल, एलपीजी गैस, स्प्रीट, कोलतार, मिट्टी का तेल और भी बहुत सारी चीजें निकलती हैं। इन सभी के दाम भी सरकार लगातार बढ़ाती जा रही है। नेपाल, भूटान और श्रीलंका जैसे देश भारत से तेल खरीदते हैं और अपनी जनता को भारत से भी सस्ता पेट्रोल और डीजल उपलब्ध कराते हैं।

एक सवाल यह भी उठता है कि तेल के किस मद में खर्चा सबसे ज्यादा आता है ताकि तेल के महँगे होने को और अच्छी तरह समझ सकें। रिफाइनरी से आने वाले तेल में 80 प्रतिशत खर्च कच्चे तेल का है और 20 प्रतिशत खर्च बाकी चीजों का। इसलिए कच्चे तेल का दाम निर्णायक है। जब अन्तरराष्ट्रीय बाजार में तेल सस्ता होता है तो इसी अनुपात में सरकार ने दाम क्यों नहीं घटाये?

पेट्रोल से सरकार की कमाई कैसे साल दर साल बढ़ती गयी

है, इसे हम एक और उदाहरण से समझ सकते हैं सरकारी क्षेत्र की इंडियन ऑयल कम्पनी का मुनाफा मार्च 2013 में 5 हजार करोड़ था और जो मार्च 2017 में 19 हजार करोड़ और मार्च 2018 तक 21 हजार करोड़ पहुँच गया। 2014 से अब तक पेट्रोल पर डीलर का कमीशन 73 प्रतिशत बढ़ा है और डीजल पर 46 प्रतिशत और डीजल पर 48 प्रतिशत वैट है। अगर केन्द्र और राज्य सरकार सभी टैक्स हटा ले तो दिल्ली में पेट्रोल की कीमत 40.55 रुपये लीटर हो जायेगी।

नवम्बर 2014 से अब तक केन्द्र सरकार ने पेट्रोल पर 54 प्रतिशत और डीजल पर 154 प्रतिशत एक्साइज ड्यूटी बढ़ाई है। राजस्व विभाग के डायरेक्टरेट जनरल ऑफ सिस्टम एंड डाटा मैनेजमेंट (डीजीएसडीएन) के अनुसार 2016-17 में केन्द्र सरकार को तेल से 2.67 लाख करोड़ आमदनी हुई है जबकि 2012-13 में यह 0.98 लाख करोड़ थी।

एक तरफ सब्सिडी में कटौती और दूसरी तरफ तेल के दामों में लगातार बढ़ोतरी की गयी जो अब भी तेजी से जारी है।

सरकार ने पेट्रोल कम्पनियों से कहा था कि राजकोषकीय घाटे को कम करने में तेल से होने वाली आय की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। 2013-14 में जहाँ 4.4 फीसदी राजकोष का घाटा था, वहीं 2015-16 में यह 3.9 फीसदी रह गया है। उसे सरकार 2018-19 में इसे 3.3 फीसदी तक लाएगी यानी पेट्रोल और डीजल के दामों में और इजाफा होगा। तेल के महँगे होते दामों को लेकर भाजपा के मन्त्री केडी आल्फोन्स का बयान है कि "पेट्रोल खरीदने वाले भूखे तो नहीं मर रहे हैं, हम उन्हीं लोगों पर टैक्स लगा रहे हैं जो टैक्स अदा कर सकते हैं, जिनके पास कार है, मोटर साइकिल है।" निश्चित रूप से मोटरसाइकिल और कार वाले भूखा नहीं मर रहे हैं लेकिन क्या मन्त्री महोदय लोगों के भूखों मरने का इंतजार करेंगे? कुछ लोग भूख से मर रहे हैं और किसान आत्महत्या कर रहे हैं। क्या उनको तेल सस्ता मिल रहा है।

अगर तेल महँगा होता है तो इसका असर पूरी आबादी पर पड़ता है। फलों, सब्जियों, फूलों, ठैली-रेहड़ी वालों, यात्रियों, परिवहन पर पड़ता है। सभी चीजें महँगी हो जाती हैं। पिछले महीने से महँगे तेल को लेकर ट्रकों की हड़ताल चल रही है जिसके चलते खुदरा बाजार और मण्डियों पर असर पड़ना शुरू हो गया है। छात्रों, जवानों, महिलाओं, मजदूरों और किसानों पर इस महँगाई का गहरा असर पड़ता है। लेकिन सरकार कहती है कि किसी पर बुरा असर नहीं पड़ा रहा है।

जुताई, बुआई, कटाई, ढुलाई और सिंचाई यानी खेती के हर काम पर इस महँगाई का असर पड़ता है। हरियाणा में गेहूँ की बुआई पर जहाँ कुछ साल पहले एक एकड़ में 1000 रुपये लगते थे, अब वहीं 1400 रुपये लगते हैं। एक एकड़ धान के खेत की जुताई का रेट पहले 1800 रुपये था, अब यह 2000 रुपये हो गया है। धान की कटाई के लिए कम्बाइन हारवेस्टर जहाँ एक हेक्टेयर का 1000 रुपये लेता था, अब 2000 रुपये लेता है। महँगाई लगभग दो गुनी हो गयी है। आगरा में आलू का भाड़ा डीजल महँगा होने के चलते 30-40 प्रतिशत महँगा हो गया है। यही हाल पूरे देश की खेती का है।

सरकार ने कहा है कि 2022 तक तेल के आयात में 10 प्रतिशत की कमी लाएगी। कहीं यह भी जुमला तो नहीं। 2013-14 में भारत कच्चे तेल का 77.3 प्रतिशत आयात करता था। लेकिन 2017-18 में भारत का तेल आयात बढ़कर 82.8 प्रतिशत पर पहुँच गया। आखिर इस वृद्धि की वजह क्या है? भारत सरकार ने नये तेल क्षेत्रों की खोज पर अधिक निवेश नहीं किया। 2017-18 में कच्चे तेल का उत्पादन गिरकर 356.8 लाख टन पर आ गया है। पिछले चार वर्षों से ओएनजीसी ने तेल की खोज पर महज 1.239 अरब रुपये ही खर्च किया है, क्योंकि नयी खोजों के बजाय ओएनजीसी ने एचवीसीएल के अधिग्रहण के लिए 370 अरब रुपये खर्च किया। तेल आयात पर निर्भरता कम करने के बजाय उल्टे निर्भरता बढ़ाई जा रही है। इससे तय है कि 2022 तक 10 प्रतिशत आयात करने की बात जुमला ही है।

देशी-विदेशी निजी कम्पनियों को तेल और गैस की खोजों के लिए कानून को आसान बना दिया गया है। इसके अनुसार मूल क्षेत्र में लगी कम्पनी ही उस क्षेत्र के इलाके में गैस और तेल की खोज करेगी। जैसे-- अनिल अग्रवाल की वेदान्त केचर्न आयल एण्ड गैस कम्पनी का बाडमेर ब्लाक उन क्षेत्रों में लगा है, जहाँ तेल भण्डार की बहुत ज्यादा सम्भावना है। अब यहाँ वेदान्त कम्पनी ही इस क्षेत्र में खोज करेगी। सरकार अब किसी दूसरी कम्पनी को खोज का ठेका नहीं देगी। वहीं सरकार कह रही है कि इसका फायदा ओएनजीसी, आयल इंडिया और आरआईएम को भी हो सकता है। सरकार कहती है कि लोग ईमानदारी से टैक्स नहीं देते हैं। क्या यह बयान भारत की मेहनतकश जनता की बेइज्जती नहीं है? बेइमान कौन है? क्या वे लोग जो पेट्रोल डीजल पर 50 फीसदी से भी ज्यादा टैक्स देते है? या वे बेरोजगार युवा तो नहीं जिनसे सरकार एक फार्म पर 400 से 500 प्रतिशत का टैक्स वसूलती है? या वह सरकार जो अमीरों को टैक्स में लगातार छूट दे रही है। अपने पहले ही बजट में 5 लाख 73 हजार करोड़ रुपये की टैक्सों में छूट देती हो और बैंकों का कर्ज लेकर भागने वाले पूँजीपतियों को लगातार बढ़ावा दे रही है? उनके द्वारा डुबोये गये बैंकों को उबारने के लिए जनता से टैक्स वसूलकर राहत पैकेज दे रही है। आज सोचने वाली बात है कि अंग्रेजों की लूट और इन देशी-विदेशी पूँजीपतियों और सरकार की इस लूट में कौन अधिक है?

वेनेजुएला के चुनाव में मादुरो की पुनर्वापसी

--राजेश चौधरी

1998 की बोलिवेरियन क्रान्ति के बाद से ही वेनुजुएला काँटे की तरह साम्राज्यवादी अमरीका की आँखों में चुभता रहा है। इस क्रान्ति ने अमरीकापरस्त सरकार को सत्ता से बाहर कर दिया और ह्युगो शावेज के नेतृत्व में नयी सरकार बनी। वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था तेल पर ही निर्भर है। नयी सरकार ने तेल की कमाई से जनहित योजनाओं को लागू किया। इसलिए बोलिवेरियन क्रान्ति के बाद ही जनता को रोटी, शिक्षा और अस्पताल जैसी बुनियादी सुविधाएँ बेहतर मिलनी शुरू हुईं। 1998 से लेकर आज तक, साम्राज्यवादी अमरीका क्रान्ति से पहले जैसी स्थिति की पुर्नस्थापना करने की जी-जान से कोशिश कर रहा है। अमरीकी सत्ता में चाहे जो हों डेमोक्रेटिक या रिपब्लिक, उनकी विदेश नीति पर खास फर्क नहीं पड़ता। वह केवल अपने मंसूबे पूरे करना चाहता है। और अमरीका अपनी कोशिश को लोकतंत्र की पुनर्बहाली, या तानाशाही का अन्त, जैसी मनमोहक शब्दावली में पेश करता है। इस लेख में हाल ही में सम्पन्न हुए वेनेजुएला के चुनाव में अमरीकी दखलंदाजी, वेनेजुएला की लोकप्रिय नीतियों और साथ ही वेनेजुएला की राह में मुश्किलों का विश्लेषण किया गया है।

वेनेजुएला के चुनाव में अमरीकी दखलंदाजी

वेनेजुएला में चुनाव दिसम्बर 2018 में होने थे। पर राष्ट्रीय संविधान सभा ने इन्हें अप्रैल 2018 में कराने का निर्णय लिया। विपक्ष ने आपत्ति दर्ज करायी। चुनाव आयोग ने पक्ष-विपक्ष की सहमति से चुनाव का समय मई 2018 तय किया। राष्ट्रीय संविधान सभा में राष्ट्रपति मादुरो के समर्थकों की कमी नहीं थी फिर भी विपक्ष का सम्मान करते हुए मई 2018 में चुनाव तय किये गये। विपक्ष का मुख्य चेहरा थे हेनरी फॉल्कान महोदय जिन्होंने चुनाव में धाँधली का मनगढ़ंत आरोप लगाया और लोगों के बीच हस्ताक्षर अभियान चलाया। कमाल की बात है कि हजारों मरे हुए लोगों के भी हस्ताक्षर ले लिये गये। जब बात खुली तो उनकी बड़ी किरकिरी हुई।

फिर फॉल्कान महोदय ने अपने चुनावी वायदे में साम्राज्यवादी अमरीका के साथ हाथ मिलाने की बात कही। आईएमएफ और दूसरे पश्चिमी वित्तीय संस्थानों से कर्ज लेकर वेनेजुएला को महान बनाने का सपना परोसा। पर विपक्ष की यह चाल भी न चली क्योंकि क्रान्ति के बाद से ही वेनेजुएला में एक आम समझदारी बनी हुई है कि नयी आर्थिक नीतियाँ डॉलर तो भेजती हैं-- पूँजीपतियों के लिए और सुविधाओं में कटौती करती हैं-- मेहनतकश जनता की। इसके बाद अमरीकी शह पर फॉल्कान महोदय ने चुनाव का बहिष्कार ही करना शुरू कर दिया जबकि मई 2018 में चुनाव के लिए सहमति पर उन्होंने खुद ही हस्ताक्षर किये थे। वेनेजुएला के चुनावों में अमरीका का एक हस्तक्षेप तो फॉल्कान महोदय थे जो कामयाब न हो सके। वैसे लातिन अमरीका में चुनाव कहीं भी हो, कहीं साम्राज्यवादी अमरीका पक्ष बनता है तो कहीं विपक्ष। भले ही उसे मुँह की खानी पड़े।

इतना ही नहीं वेनेजुएला के चुनावों में मादुरो को हराने के लिए ट्रम्प प्रशासन की दूसरी योजना थी-- सैन्य हस्तक्षेप। इसके लिए हजारों अमरीकी सैनिक कोलम्बिया, गुआना और ब्राजील में भेजे गये। ये देश वेनेजुएला के पड़ोसी हैं। इनकी हजारों किलोमीटर की सीमाएँ वेनेजुएला के साथ-साथ हैं। अमरीकी उकसावे पर कोलम्बिया ने वेनेजुएला बार्डर पर चहल-कदमी बढ़ा दी। सैनिक और रसद की तादाद बढ़ानी शुरू की। यह देख राष्ट्रपति मादुरो की सरकार ने कोलम्बिया प्रतिनिधियों की बैठक बुलायी। कोलम्बियाई प्रतिनिधि कहने लगे-- पिछले 18 महीनों में 4.5 लाख वेनेजुएलावासी बॉर्डर के रास्ते कोलम्बिया में चले गये हैं। इसी को रोकने के लिए फौज बढ़ायी गयी है। वेनेजुएला के प्रतिनिधियों ने कहा-- पहली बात तो यह है कि हमारे आधिकारिक आँकड़े इतनी भीड़ का विस्थापन नहीं दिखाते, दूसरी बात आपको याद दिला दें कि कोलम्बियाई गृहयुद्ध के दौरान 56 लाख कोलम्बियाई इसी बार्डर को पार करके वेनेजुएला में रहने के लिए आये थे।

खैर इसके बाद वेनेजुएला ने भी बार्डर पर अपनी सैन्य अभ्यास और अभियान जारी रखा। उधर अमरीका ने गुआना को भड़काया कि वनेजुएला का तानाशाह आक्रमण की योजना बना रहा है। जबकि वेनेजुएला की पूरी राष्ट्रीय संविधान सभा चुनाव की तैयारी में लगी हुई थी। कुल मिलाकर यह दूसरी अमरीकी योजना भी असफल रही।

अमरीका का तीसरा हमला था मीडिया द्वारा

साम्राज्यवादी मीडिया ने पहले से ही वेनेजुएला की नीतियों और लोगों की जिन्दगी में आ रहे बदलावों को लेकर चुप्पी साध रखी है। पर वेनेजुएला को बदनाम करने का एक भी मौका वह हाथ से निकलने नहीं देता। इस चुनाव में एक अमरीकी कम्पनी द्वारा

बनायी गयी टैग लाइन ''वेनेजुएला के लिए प्रार्थना करो'' को खूब उछाला गया। वेनेजुएला के लिए प्रार्थना क्यों? क्या वेनेजुएला किसी शैतान की गिरफ्त में है? क्या वहाँ लोगों का कत्लेआम हो रहा है? वेनेजुएला के लोगों ने इस हमले का बड़ा ही सीधा और स्पष्ट जवाब दिया-- हम जानते हैं कि आपको हम से तेल चाहिए, लेकिन तेल के लिए वेनेजुएला के लोगों को सताना बन्द करो। मादुरो को तानाशाह साबित करने की भरपूर कोशिश की गयी। लेकिन ट्रम्प प्रशासन की यह तीसरी चाल भी कामयाब नहीं हुई।

अन्त में वेनेजुएला ने तीस देशों को चुनाव की समीक्षा के लिए न्यौता दिया। इन देशों के 150 प्रतिनिधियों ने चुनाव की समीक्षा की। बहिष्कार के बावजूद मादुरो को कुल मतदाताओं में से 28 प्रतिशत वोट मिले और मादुरो विजयी हुए। अगले छः साल के लिए फिर से वेनेजुएला की जनता ने उन पर भरोसा किया। मादुरो को मिला वोट प्रतिशत 2008 में ओबामा को मिले वोट प्रतिशत के बराबर है और 2012 में ओबामा और 2016 में ट्रम्प को मिले वोट प्रतिशत से ज्यादा है। फिर भी ट्रम्प प्रशासन मादुरो को तानाशाह कहता है और आर्थिक नाकाबन्दी थोपता रहता है।

सच्चाई तो यह है कि अमरीका द्वारा सेना, मीडिया या विपक्ष के जरिये वेनेजुएला में दखलंदाजी का लोकतंत्र की बहाली और तानाशाही से कोई लेना देना नहीं। अमरीका द्वारा आर्थिक नाकाबन्दी का भी लोकतंत्र से कोई रिश्ता नहीं है। हम देख सकते हैं कि लातिन अमरीकी देश होन्डुरास और ब्राजील में सैन्य तख्तापलट हुए थे। और चुनाव पर भी सवाल खड़े हुए थे फिर भी अमरीका ने आर्थिक प्रतिबन्ध नहीं लगाये। उधर सऊदी अरब, जहाँ कोई राष्ट्रीय चुनाव होता ही नहीं, फिर भी अमरीका की तरफ से कोई आर्थिक प्रतिबन्ध नहीं है। उल्टा ये देश अमरीका के अच्छे सहयोगी हैं। अमरीका का असली मकसद दुनिया भर में आर्थिक नवउपनिवेशवादी नीतियाँ थोपना है न कि लोकतंत्र की बहाली करना।

एक नजर वेनेजुएला की नीतियों पर

वेनेजुएला की पूरी अर्थव्यवस्था तेल के दम पर चलती है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में गिरती तेल की कीमत सीधे वेनेजुएला की रीढ़ पर चोट करती है। ऊपर से अमरीका द्वारा थोपी गयी आर्थिक नाकाबन्दी उसका दम घोंट देती है। साम्राज्यवादी अमरीका, पड़ोसी मुल्कों के साथ तनातनी बढ़ाने की कोशिश करता रहता है जिससे वेनेजुएला पर सैन्य खर्च का दबाव भी बढ़ जाता है। इन जानलेवा मुश्किलों के बावजूद वेनेजुएला, शावेज से लेकर मादुरो के काल तक आम जनता की खुशहाली बढ़ाने के लिए, सच में अच्छे दिन लाने के लिए प्रतिबद्ध है। ऐसा उन्होंने सिर्फ भाषणों में नहीं व्यवहार में किया है। कुछ उदाहरण देखिये। 2005 में हरिकेन कैटरिना नाम का भयानक चक्रवात आया था जिसने उत्तर-पूर्वी अमरीका में भयानक तबाही मचा दी थी। अरबों डॉलर की सम्पत्ति स्वाहा हो गयी थी। लाखों लोग घायल और बेघर हो गये। ऐसे में वेनेजुएला ने आगे बढ़-चढ़कर मदद की। टनों खाद्य सामग्री पहुँचायी। तेल और पानी पहुँचाया। जरूरी उपकरण और दवाओं के साथ डॉक्टरों की टीम भेजी।

2011 में वेनेजुएला में तीस लाख घर बनाने का निर्णय लिया गया। एक घर में 4-5 लोग, यानी एक परिवार के रहने की व्यवस्था की और हर घर में जरूरी फर्नीचर भी लगाये। 2018 तक 20 लाख घर लोगों को दे दिये गये हैं। 2019 तक बचे हुए 10 लाख घर बनाने का काम भी पूरा हो जायेगा। वेनेजुएला की कुल आबादी 3 करोड़ के लगभग है। 1.5 करोड़ लोगों के रहने की व्यवस्था करना कोई छोटा काम नहीं है। 2019 तक वेनेजुएला में शायद ही कोई बेघर होगा।

वेनेजुएला ने लोकतंत्र को जन-जन तक पहुँचाया

2006 में सामूहिक परिषद के नियमों के तहत नागरिकों को नागरिक सभा गठित करने में शामिल किया गया। एक नागरिक सभा शहरों में 150 से 400 परिवारों की प्रतिनिधि होती है। गाँव में 20 परिवारों की और आदिवासी या दूरदराज इलाकों में 10 परिवारों की। 19 हजार से ज्यादा ऐसे समूह पंजीकृत हो चुके हैं। लगभग पूरी आबादी सच्चे लोकतंत्र में बँध गयी है। खूब चुनाव आते हैं। प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का भी अधिकार है। इन प्रतिनिधियों को 1 करोड़ डॉलर मिलता है जो वहाँ की जरूरतों के हिसाब से खर्च किये जाते हैं। छोटे-छोटे लोन देने के लिए आस-पास सामुदायिक बैंक खुले हैं। इन सबके बावजूद मादुरो ने स्वीकार किया है कि वेनेजुएला की अर्थव्यवस्था का आधार अभी भी पूँजीवादी है। असली लोकतंत्र लाने के लिए पूँजीवादी सम्बन्धों को तोड़कर समाजवादी सम्बन्ध बनाने की दिशा में धीरे-धीरे बढ़ रहे हैं। सामूहिक परिषदें, लोगों की सरकार में भागीदारी, यही सब है जो वेनेजुएला में बोलिवेरियन क्रान्ति के सपने को पूरा करेगा।

अमरीका और उसके सहयोगियों को सबसे ज्यादा डर इसी का है। इसी वजह से वे मादुरो को तानाशाह कहते हैं और ट्रम्प प्रशासन लोकतंत्र की पुनर्बहाली के लिए वहाँ सैन्य तख्तापलट की वकालत करता है। इसका असली मकसद है 1998 से पहले जैसी स्थिति कायम करना और अपने साम्राज्यवादी स्वार्थों को कायम करना।

अन्त में वेनेजुएला में जनता के लिए जनवाद हासिल करने के संघर्ष में आ रही मुश्किलों का जायजा लेते हैं।

मई 2018 में चुनाव जीतने के बाद मादुरो ने सबसे पहले विपक्ष से शान्ति की अपील करते हुए बोलिवेरियन क्रान्ति को जारी रखने के लिए कहा और सैन्य षड़यत्र रचने वाले अमरीकी अधिकारी ब्राइन को वेनेजुएला छोड़ने का आदेश दिया।

अब वेनेजुएला के सामने दोहरी चुनौती है-- आर्थिक युद्ध का मुकाबला करना और स्वतंत्र अर्थव्यवस्था विकसित करना। कम्यूनों के नेतृत्त्व में नये-नये प्रोजेक्ट लेकर देश को खाद्य मामले में आत्मनिर्भर बनाना सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। विनिर्माण करना भी जरूरी है, उद्योग विकसित करना जो कि 1950 से ही लगभग बन्द पड़े हैं। दूसरा बिजली, इन्टरनेट, स्वास्थ्य सुविधा और शिक्षा के लिए भी बड़े प्रोजेक्ट लेने हैं। इन सबके लिए जरूरी है कि तेल की कीमत में बढोत्तरी हो, पर अमरीका ने अपना तेल उत्पादन दो गुना कर लिया है। प्रदूषण-मुक्त ईधन का भी तेजी से प्रचार-प्रसार हो रहा है, इसलिए वेनेजुएला को कम कीमत पर तेल बेचना पड़ता है। इस कारण अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में हाथ खोलकर खर्च नहीं हो पाता क्योंकि सबसे जरूरी हो जाती है रोटी।

देश के अन्दर के धोखेबाज जो शावेज से पहले के युग की वापसी चाहते हैं वे भी वेनेजुएला से ज्यादा अमरीका और अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय कारोबारियों के प्रतिवफादार हैं। वेनेजुएला को अभी इनसे भी सख्ती से निपटना है। भ्रष्टाचार और अपराध अभी भी बना ही रहेगा क्योंकि ये दोनों ही पूँजीवाद के अभिन्न अंग हैं।

मादुरो पर अमरीकी सहयोगी ब्राजील और कोलम्बिया के आक्रमणा का खतरा बना रहेगा। इन तमाम मुश्किलों को हल करते हुए वे कैसे आगे बढ़ेंगें यह तो भविष्य ही बतायेगा। पर अभी तक जो उन्होंने और वेनेजुएला के लोगों ने मानवता के लिए किया है दुनिया के सभी देशों खासतौर पर साम्राज्यवादी अमरीका को सीखने की जरूरत है। उससे दुनिया भर की शान्तिप्रिय जनता को वेनेजुएला के ऊपर थोपे गये आर्थिक युद्ध रोकने के लिए आवाज बुलन्द करनी होगी। विश्व जनगण का नारा होना चाहिए-- वेनेजुएला पर आर्थिक युद्ध का अन्त हो, दुनिया भर में निर्दोष नागरिकों का कत्लेआम बन्द हो।

21वीं सदी में सैन्यवाद का उठता ज्वार

(क्लिन्टन, बुश और ओबामा से ट्रम्प तक)

--जेम्स पेत्रास

21वीं सदी के पहले दो दशकों में अमरीकी सैन्यवाद बहुत तेजी से फैला और इसे डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दोनों के राष्ट्रपतियों द्वारा गले लगाया गया। राष्ट्रपति ट्रम्प के द्वारा सैन्य खर्च में बढ़ोतरी के बारे में मीडिया का उन्माद उस सैन्यवाद के फैलाव को जानबूझकर अनदेखा करता है जो अपने सभी पहलुओं के साथ राष्ट्रपति ओबामा और उनके दो पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों 'बिल' क्लिन्टन और जार्ज बुश जूनियर के कार्यकाल में भी जारी था।

इस लेख में हम पिछले सत्रह सालों में सैन्यवाद की निरन्तर वृद्धि की तुलना और चर्चा करते हुए आगे बढ़ेगे। इसके बाद हम इसका जिक्र करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में सैन्यवाद का प्रवेश अमरीकी साम्राज्यवाद का एक अनिवार्य ढाँचागत लक्षण है।

सैन्यवाद

अमरीका का राष्ट्रपति कोई भी रहा हो और वह अपने लोकप्रिय शब्दाडम्बरों से भरे चुनावी अभियानों में घरेलू अर्थव्यवस्था के हित में चाहे जितना भी सैन्य खर्च पर पाबन्दी लगाने की बात कहता रहा हो, इसके बावजूद सैन्य खर्च में भारी वृद्धि जारी है।

'बिल' क्लिन्टन के कार्यकाल में सन् 2000 का सैन्य खर्च 302 अरब डॉलर से बढ़कर 2001 में 313 अरब डॉलर हो गया। राष्ट्रपति जार्ज डब्ल्यू बुश (जूनियर) के कार्यकाल में 2002 का सैन्य खर्च 357 अरब डॉलर था जो तेजी से बढ़कर 2004 में 465 अरब डॉलर और फिर 2008 में और बढ़कर 621 अरब डॉलर हो गया। राष्ट्रपति ओबामा (''शान्ति उम्मीदवार'') के कार्यकाल में 2009 का सैन्य खर्च 669 अरब डॉलर था जो तेजी से बढ़कर 2011 में 711 अरब डॉलर और फिर 2017 में प्रत्यक्ष गिरावट के साथ 596 अरब डॉलर हो गया। अब नवनिर्वाचित राष्ट्रपति ट्रम्प 2018 में सैन्य खर्च को 650 अरब डॉलर तक बढ़ाने की माँग कर रहे हैं।

कुछ तथ्य इस क्रम में हैं-- ओबामा का 2017 में सैन्य बजट ने 'रक्षा-सम्बन्धित' राजकीय विभागों के कुछ खर्चों को रद्द किया और ऊर्जा विभागों के नाभिकीय हथियारों के कार्यक्रम में 25 अरब डॉलर की बढ़त को शामिल किया। ओबामा के समय में 2017 में कुल सैन्य खर्च का योग 623 अरब डॉलर था जो ट्रम्प के प्रस्ताव से 30 अरब डॉलर कम था। ओवरसीज कन्टिनजेन्सी ऑपरेशन (ओसीओ) के लिए ओबामा के सैन्य खर्च को वार्षिक बजट के प्रस्तावों में शामिल नहीं किया गया और अफगानिस्तान, इराक, सीरिया, यमन, लीबिया और अनेक देशों के लिए अमरीकी युद्ध का खर्च ओसीओ शामिल था जो उसके कार्यकाल में तेजी से बढ़ गया था। ओबामा के 8 सालों के कार्यकाल का सैन्य खर्च जॉर्ज डब्ल्यू बुश के समय के सैन्य खर्च से 816 अरब डॉलर अधिक था।

राष्ट्रपति ट्रम्प का सैन्य खर्च में बढ़ोतरी का प्रस्ताव डेमोक्रेटिक राष्ट्रपतियों के सैन्य खर्च की सूची से मेल खाता है जो

मीडिया के दावों के विपरीत है। स्पष्ट रूप से रिपब्लिकनों और डेमोक्रेटों ने विश्व व्यवस्था को संचालित करने वाली ताकत के तौर पर अमरीकी सेना पर बहुत अधिक विश्वास किया है। आईएसआईएस ऑपरेशन के लिए 7.5 अरब डॉलर (50 फीसदी वृद्धि के बाद) और साइबर तथा आतंकवाद विरोधी युद्ध के लिए 8 अरब डॉलर को शामिल करने के बाद ओबामा के 2017 के बजट में सबसे बड़ी बढ़ोतरी खुफिया लड़ाकू विमानों, नाभिकीय पनडुब्बियों और वायुयान वाहकों में की गयी जिनका निशाना स्पष्ट रूप से रूस, चीन और ईरान की। नौसेना और वायुसेना को कुल बजट का तीन चौथाई प्राप्त हुआ। वाशिंगटन रूस को दिवालिया करके इसे पुतिन के पहले के दशक की गुलामी में पहुँचाने का प्रयास करता है। सीआईए, ओबामा और रिपब्लिकन पार्टी का ट्रम्प के खिलाफ क्रूर अभियान रूस के साथ उसकी वार्तालाप के चलते है। दशकों से अमरीका की एक ध्रुवीय वर्चस्व की माँग की मुख्य बातें ट्रम्प के अधिकार और नियुक्तियों को छीन लेने पर निर्भर है जो आंशिक या पूर्ण रूप से सैन्य चलित अमरिकी साम्राज्यवाद के पूरे ढाँचे को कमजोर करता हुआ नजर आ रहा है। जबकि पूर्ववर्ती चारों प्रशासनों द्वारा सैन्य चलित साम्राज्यवाद को जारी रखा गया था।

ऊपरी तौर पर ट्रम्प का सैन्य खर्च में बढ़ोतरी अमरीका के आर्थिक स्तरों को बढ़ाने वाली उसकी योजना के लिए एक ''सौदेबाजी के गुटके'' की तरह है। ये अवसर हैं - रूस से सौदों में कमी, चीन, पूर्वी एशिया (सिगांपुर, ताइवान और दक्षिण कोरिया) और जर्मनी से व्यापार पर फिर से मोल-भाव, इनमें से सभी बहुत बड़ी मात्रा में खरबों अमरीकी डॉलर का वार्षिक व्यापार घाटा शामिल किये हुए हैं।

ट्रम्प की बार-बार असफलता उसकी नियुक्तियों पर लगातार दबाव तथा उसकी छवि और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक पहलू पर डाला गया दबाव जबकि यहाँ तक की घेरे के बाहर सट्टा बाजार की ऐतिहासिक वृद्धि के सामने ये बातें अमरीकी अल्पतंत्र के बीच सत्ता और 'कौन सरकार चलायेगा' इसे लेकर गहरे विभाजन की ओर इशारा करती है। द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत के बाद, हम विदेश नीति में मूलभूत दरारों के गवाह हैं।

प्रतिरोधी वाद-विवाद की पहले की धारणा अब प्रचलन में नहीं है। वित्तीय प्रेस (द फिनान्सियल टाइम्स और वाल स्ट्रीट जर्नल) खुलेआम सैन्यवादियों के साथ हैं, जबकि वाल स्ट्रीट के वित्तीय व्यापारी ट्रम्प के व्यवसाय हितैषी राष्ट्रीय नीतियों तथा रूस और चीन के साथ समझौते पर बातचीत के पक्ष में हैं। ज्यादातर प्रचारक अस्तबलों के साथ घुटे हुए 'विशेषज्ञ दल', विशेषज्ञ, सम्पादक तथा उदार और नवरूढ़िवादी विचारधारा के सर्मथक रूस के खिलाफ सैन्य अक्रामकता को बढ़ावा देते हैं। जबकि लोक-लुभावन सोशल मीडिया ट्रम्प के जमीनी समर्थक घरेलू उत्पादक तथा राष्ट्र की चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स घरेलू करों में तथा संरक्षणवादी उपायों के लिए दबाव डालते हैं।

सेना ट्रम्प समर्थक है और वह आर्थिक लाभ के लिए युद्ध की उसकी धारणा का समर्थन करती है। इसके विपरीत सीआईए, नौसेना और वायुसेना ने ओबामा के एकांगी सैन्य बजट का सबसे अधिक लाभ उठाया, ऐसी नीतियाँ घरेलू अर्थव्यवस्था को तबाह कर देंगी, इसके बावजूद रूस और चीन से विश्व स्तर पर सैन्य टकराव और इनके सहयोगी देशों जैसे ईरान के खिलाफ युद्ध की नीति को जारी रखे हुए है।

डोनाल्ड ट्रम्प की साम्राज्यवादी अवधारणा इन बातों पर आधारित है कि उत्पादों का निर्यात और बाजारों पर कब्जा किया जाये। घरेलू बाजार में (अभी एक हजार अरब डॉलर से ज्यादा विदेशों में हैं।) फिर से मुनाफाप्रद निवेश के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों की पूँजी को वापस अमरीका में आकर्षित किया जाये। ऐसे आर्थिक और सैन्य सहयोग का विरोध करते हैं जो अमरीकी वित्तीय घाटे और कर्ज को बढ़ाते हैं। यह पहली सरकारों के विपरीत सैन्यवादी जिन्होंने विकृत व्यवसायिक घाटे तथा रूस और उसके सहयोगी देशों पर प्रतिबन्ध, सैन्य अड्डा और हस्तक्षेप पर असन्तुलित अमरीकी खर्च को स्वीकार किया था।

पश्चिमी यूरोप नाटो के खर्च का एक बड़ा हिस्सा अदा करने के राष्ट्रपति ट्रम्प के उद्देश्य को और इसके अमरीकी सैन्य खर्च पर यूरोप की निर्भरता को कम करता है। दोनों राजनैतिक पार्टियों द्वारा अस्वीकार कर दिये गये। रूस से रिश्ते को सुधारने की दिशा में बढ़ाया गया ट्रम्प का हरेक कदम उन एक-ध्रुवीय सैन्य साम्राज्यवादियों के गुस्से को भड़काता है जिनका डेमोक्रेट और रिपब्लिकन नेतृत्व पर नियन्त्रण हैं।

सैन्यवादी साम्राज्यवाद ने रूस के सहयोगी देशों को कुछ रणनीतिक सहूलियतें प्रदान की है जैसे-- ईरान और लेबनान के साथ अस्थायी समझौते और यूक्रेन के साथ कमजोर शान्ति समझौते। ठीक इसी समय वाशिंगटन अपने सैन्य अड्डों को नार्डिक--बाल्टिक इलाके से एशिया तक फैला रहा है। वह ब्राजील, वेनेजुएला और यूक्रेन में सैन्य तख्तापलट के लिए समर्थन की धमकी देता है।

इन आक्रामक चालों का रणनीतिक उद्देश्य अमरीका के वैश्विक प्रभुत्त्व के सम्भावित स्वतंत्र प्रतिद्वंदी के रूप में रूस को घेरना और नष्ट करना है।

राष्ट्रपति ट्रम्प की शुरुआती नीति, 'अमरीकी किला' बनाने की है-- सैन्य बजट में वृद्धि करना है, मैक्सिको की सीमा पर और तेल से सम्पन्न खाड़ी देशों में पुलिस और सैन्य शक्ति को बढ़ाना है। ट्रम्प का एजेण्डा सैन्य ताकत को मजबूत करना है जो निर्यात बाजार को बढ़ाने के लिए द्विपक्षीय

समझौता वार्ताओं में अमरीका की आर्थिक सौदेबाजी के पक्ष को मजबूत करे।

निष्कर्ष

अमरीका तीखे रूप से विभाजित दो साम्राज्यवादों के बीच बहुत खतरनाक टकराव का गवाह है।

सैन्यवाद, अमरीकी साम्राज्यवाद का स्थापित रूप है जो राजसत्ता के औजार से गहराई से जुड़ा है। इसमें 17 खुफिया एजेंसियाँ, प्रचार विभाग, वायुसेना और नौसेना के साथ-साथ उच्च तकनीकी क्षेत्र और वाणिज्यिक पूँजीवादी अभिजात वर्ग शामिल है जो अमरीकी श्रमिकों की कीमत पर विदेशी आयात और सस्ते विदेशी कुशल श्रमिकों से लाभान्वित हुआ है। विनाशकारी युद्ध, खोये हुए बाजार, घटती मजदूरी, जीवन स्तर में गिरावट और महँगी नौकरियों का विदेशों में स्थानान्तरण यही उनका रिकॉर्ड है। सबसे अच्छी चीज यह की गयी है कि उन्होंने बहुत बड़ी कीमत पर कुछ कमजोर अधीनस्थ शासकों को बनाये रखा है।

एक रणनीतिक साम्राज्यवादी विकल्प बनाने का ट्रम्प शासक का प्रयास कहीं अधिक सूक्ष्म दृष्टिकोण के इर्द-गिर्द घूमता है-- वह सैनिक ताकत का इस्तेमाल घरेलू मजदूर बाजार को बढ़ाने के लिए और विदेशों में आर्थिक हस्तक्षेप के लिए जन समर्थन सुनिश्चित करना चाहता है। सबसे पहले और सबसे अधिक ट्रम्प को एहसास है कि रूस को यूरोप में उसके बाजार से अलग नहीं किया जा सकता और न ही उसे प्रतिबन्धों से हराया जा सकता है। यह उसे बड़े स्तर के व्यापारिक सौदों के लिए वैश्विक समझौता वार्ता को प्रस्तावित करने की दिशा में ले जाता है जो अमरीकी बैंक, तेल, कृषि और बड़ी इंडस्ट्री के पक्ष में हो। दूसरी ओर ट्रम्प सामाजिक 'साम्राज्यवाद' का समर्थन करता है जिसके चलते स्थानीय अमरीकी उद्योगों और बैंक पर आधारित अमरीकी निर्यात बाजार अमरीकी व्यापारियों और मजदूरों के लिए अधिक वेतन और लाभ की तरफ ले जाएगा।

अमरीकी साम्राज्यवाद को महँगे और असफल सैन्य हमलों पर निर्भर नहीं होना है, बल्कि अमरीकी उद्योगों और बैंकों द्वारा विदेशी 'आक्रमण' पर निर्भर करना होगा जो निवेश के लिए अमरीका में अपना मुनाफा वापस लाएँगे और नियन्त्रण मुक्त और कर कटौती की उसकी प्रस्तावित योजना के पहले से प्रेरणा के चलते स्टाक मार्केट को फिर से मजबूत करेंगे।

राष्ट्रपति ट्रम्प का इस नये साम्राज्यवादी नमूने की ओर संक्रमण एक भयानक शत्रुता को पैदा करता है जो उनके कार्यक्रम को रोकने में सफल हुआ है और उनके शासन को उखाड़ फेकने का भय पैदा किया है।

शुरू से ही, राजसत्ता को सुदृढ़ करने में ट्रम्प की विफलता, एक ऐसी गलती है जो उसके प्रशासन के महत्त्व को कम करती है। जबकि चुनाव में उसकी जीत ने उसे राष्ट्रपति का कार्यालय सौप दिया, उसका शासन राजसत्ता का केवल एक पहलू है जो तात्कालिक विघटन के लिए असुरक्षित है और स्वतंत्र प्रतिघाती तथा वैधानिक विभागों द्वारा उसकी राजनीतिक मृत्यु के लिए उसे बेदखल किये जाने को लेकर भी असुरक्षित है। अन्य सरकारी विभाग ओबामा और पिछले शासकों के उत्तरवर्तियों से भरा हुआ है जो सैन्यवाद को लेकर बहुत गहराई से प्रतिबद्ध हैं।

दूसरी बात, ट्रम्प अपने अभिजात समर्थकों और जनाधार को वैकल्पिक मीडिया के आसपास लामबन्द करने में असफल रहे हैं। उनके प्रशासन पर जन मीडिया के तीखे आक्रमण के खिलाफ ट्वीटर पर 'सुबह का सन्देश' एक कमजोर प्रतिरोध साबित हुआ है।

तीसरी बात, जापान और इंगलैंड से अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने में ट्रम्प सफल हुए हैं। जबकि वे रूस के साथ करार करते हुए पीछे हट गये जो उनके साम्राज्यवादी प्रतिद्वन्दियों को कमजोर करने वाला प्रमुख मुद्दा बनेगा।

चौथी बात, ट्रम्प अपनी अप्रवासी नीतियों को एक नये कारगर घरेलू रोजगार कार्यक्रम से जोड़ने में असफल हो गये और वह ओबामा प्रशासन के समय लायी गयी कठोर अप्रवासी-विरोधी नीतियों का खुलासा करने और उनका लाभ उठाने में नाकाम रहे, जबकि ओबामा शासन के दौरान इन नीतियों के चलते लाखों लोगों को कैद में डाल दिया गया था और निष्कासित कर दिया गया था।

पाँचवी बात, ट्रम्प बाजार को बढ़ावा देने वाली अपनी आर्थिक नीतियों और सैन्य खर्चों के बीच सम्बन्ध स्पष्ट करने में नाकाम रहे तथा कैसे उनका काम पूरी तरह लीक से हटकर है, यह बताने में असफल रहे।

इन सबका नतीजा यह हुआ कि उदारवादी नवरूढ़िवादी सैन्यवाद को इस नये राष्ट्रपति के खिलाफ हमले में सफलता मिली, जिससे नये राष्ट्रपति को अपनी मुख्य रणनीति से पीछे हटना पड़ा। ट्रम्प को घेर लिया गया है और वे बचाव की मुद्रा में हैं। अगर वह इस घातक हमले से बच भी जाते हैं तो भी अमरीकी साम्राज्य के 'पुनर्निर्माण' की उनकी मुख्य धारणा और घरेलू नीति की धज्जियाँ उड़ जाएँगी तथा उनके बचे-खुचे टुकड़े उनकी दोनों धारणाओं का घालमेल होंगे-- अमरीकी उत्पादों के लिए विदेशी बाजार के फैलाव और एक सफल घरेलू रोजगार कार्यक्रम के बिना विदेशी युद्धों और ढहते बाजारों में बदलाव की शुरुआत ही राष्ट्रपति ट्रम्प के लिए सम्भावित कार्यभार है।

अनुवाद-- अशुतोष कुमार

पश्चिम एशिया में निर्णायक मोड़

--राकेश सूद

अरब स्प्रिंग के बाद, अन्दरूनी और बाहरी क्षेत्रों में नये तरह के काले बादलों ने पश्चिमी एशिया के फिलिस्तीन और इजराइल के लम्बे संघर्ष को ढंक लिया है। इराक से शुरू हुए इस्लामी राज्य और उसकी उपशाखाओं के खिलाफ लड़ाई; सीरिया संघर्ष जो अमरीका, रूस, ईरान और तुर्की के बीच चल रहा है; गोलान हाइट्स में इजराइल और ईरान के बीच ताजा मुठभेड़ और यमन में गृह युद्ध जहाँ सऊदी अरब और ईरान की भागीदारी ने पुराने क्षेत्रीय दोषपूर्ण सीमारेखा को उजागर करते हुए तनाव बढ़ाया है। व्यापक संघर्ष की बढ़ती आशंका प्रथम विश्व युद्ध के बाद खींची गयी सीमाओं को पलटने का खतरा पैदा कर सकती है।

अमरीका की वापसी

इस अस्थिर परिस्थिति में, 8 मई को नयी अनिश्चितायें जुड़ गयीं जब राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने घोषणा की कि अमरीका जॉइंट कॉम्प्रेहेंसिव प्लान ऑफ एक्शन (जेसीपीओए) से बाहर निकल रहा है। ईरानी विदेश मंत्री जावेद जारिफ के बीजिंग, मॉस्को और ब्रुसेल्स का दौरा करने के बाद राजनायिक गतिविधि में हलचल मच गयी। ब्रुसेल्स में, वह ई -3 (फ्रांस, जर्मनी और यूके) के विदेश मंत्रियों और यूरोपीय संघ (ईयू) के उच्च प्रतिनिधि फेडेरिया मोगिरीनी से इस सम्भावना का पता लगाने के लिए मिले कि समझौते को कैसे बचाया जा सकता है। इसके बाद मई में सोफिया में एक शिखर सम्मेलन हुआ जहाँ यूरोपीय संघ के नेताओं ने यूरोपीय आयोग को निर्देश दिया कि वह अवरोधक अधिनियम (ब्लॉकिंग स्टेच्युट) को लागू करे जो यूरोपीय कम्पनियों को अमरीकी प्रतिबन्धों के अतिरिक्त-क्षेत्रीय प्रभावों का पालन करने से रोकता है। इसने यूरोपीय निवेश बैंक से एक विशेष प्रयोजन साधन को स्थापित करने की सिफारिश की जो ईरान में यूरोपीय कम्पनियों के निवेश की रक्षा करे।

1996 में ध्यान में लाया गया, अवरोधक अधिनियम अमरीका के उस कानून के विरोध में लाया गया था जो क्यूबा से जुड़ी कम्पनियों पर अतिरिक्त क्षेत्रीय प्रतिबन्ध लगाता था। इसने यूरोपीय संघ को यह अधिकार दिया कि वह यूरोप में अमरीकी कम्पनियों की उतनी सम्पत्तियों को जब्त कर ले जितनी यूरोपीय कम्पनियों पर जुर्माने के रूप में लगायी गयी। आखिरकार, छूट का प्रस्ताव देकर गतिरोध का समाधान किया गया। अन्तर यह है कि 1996 में, क्लिंटन प्रशासन यूरोपीय संघ की अवस्थिति के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाता था लेकिन 2018 में, अमरीकी कांग्रेस की तुलना में ट्रम्प प्रशासन कड़ा रुख अपनाने के लिए तैयार बैठा है!

21 मई को हेरिटेज फाउंडेशन में अमरीकी विदेश मंत्री माइक पोम्पे के भाषण से यह स्पष्ट है जिसमें यूरेनियम संवर्द्धन का स्थायी खात्मा, निरीक्षकों के लिए बेरोकटोक आवाजाही, मिसाइल प्रसार का खात्मा, हिजबुल्लाह, हमास, हुथी विद्रोहियों (यमन), शिया मिलिशिया (इराक) तथा तालिबान और सीरिया से पूरी वापसी का समर्थन समाप्त करने सहित ईरान के लिए एक दर्जन शर्तों का खुलासा किया गया। यह कोई प्लान बी नहीं है बल्कि एक चेतावनी है, जिसमें संवाद या कूटनीति के लिए कोई जगह नहीं है।

ईरान समझौते का तर्क

इसके अलावा, यह न केवल ईरान बल्कि अपने यूरोपीय साझेदारों के लिए भी लोहे का दस्ताना है। कई यूरोपीय लोगों ने ईरान के मिसाइल प्रसार और परीक्षण पर रोक तथा जेसीपीओए द्वारा निर्धारित 15 साल के समय सीमा से परे परमाणु संवर्द्धन प्रतिबन्धों को बढ़ाने के लिए एक रास्ता निकालने का समर्थन किया है। हालाँकि, दूर हटने के बजाय ईरान द्वारा अपने दायित्वों का पूरा पालन करने की स्थिति में, ई-3 और यूरोपीय संघ जेसीपीओए को संरक्षित करना और उस पर आगे बढना चाहते हैं। दूसरी तरफ, ट्रम्प प्रशासन जेसीपीओए समझौते को टुकड़े-टुकड़े करना चाहता है और मजबूत प्रतिबन्धों के दबाव में एक नये सौदे पर बातचीत के लिए ईरान को झुकाना चाहता है।

जेसीपीओए की ताकीद ओबामा प्रशासन के इस एहसास के साथ आया था कि 2009 में स्टक्सनेट हमले के चलते मन्दी के बाद ईरान ने अपने यूरेनियम संवर्द्धन कार्यक्रम को सफलतापूर्वक बढ़ा दिया था। नवम्बर 2013 तक जब बातचीत शुरू हुई और ईरान अपने कार्यक्रम को रोकने पर सहमत हो गया, वह इस स्थिति में आ गया था कि तीन महीने के भीतर एक परमाणु बम बनाने के लिए पर्याप्त समृद्ध यूरेनियम (25 किलो) का उत्पादन कर सके।

लीबिया, इराक और अफगानिस्तान के बाद, तालिका से गतिशील विकल्प बाहर हो गये थे और शासन परिवर्तन की अब कोई भूख नहीं रह गयी थी। अरब स्प्रिंग के बाद, बराक ओबामा ने महसूस किया कि अमरीका की पश्चिमी एशिया के नियन्त्रण

की दोहरी नीति ने इजरायल और सऊदी हितों की सेवा की लेकिन इस क्षेत्र में अमरीकी विकल्पों को प्रतिबन्धित कर दिया। उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि जेसीपीओए अपने कड़े सत्यापन प्रावधानों के साथ ईरान के परमाणु कार्यक्रम को धीमा कर देगा, 15 वर्षों तक इसे रोक देगा, प्रतिबन्धों के साथ राष्ट्रपति हसन रूहानी के नेतृत्व में ईरान के मध्यम तत्त्वों को मजबूत करेगा और इसके परिणामस्वरूप अमरीकी राजनायिक विकल्पों में वृद्धि होगी।

ट्रम्प प्रशासन में, रक्षा सचिव जिम मैटिस, जॉइंट चीफ ऑफ स्टाफ के अध्यक्ष जोसेफ डनफोर्ड, राज्य के पूर्व सचिव रेक्स टिलरसन और पूर्व राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार एचआर मैकमास्टर ने जेसीपीओए को बनाये रखने के लिए दबाव डाला था लेकिन प्रशासन में सचिव पोम्पियो और वर्तमान राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार जॉन बोल्टन को शामिल करने के साथ, अमरीकी दृष्टिकोण में बदलाव स्पष्ट है।

स्वीकृति का गठबन्धन

श्री पोम्पियो का भाषण 1979 की ईरानी क्रान्ति की उपलब्धियों पर सवाल उठाता है और यह शासन परिवर्तन के लिए बमुश्किल छिपा हुआ सुझाव है। उनका भाषण अगस्त 2002 में तत्कालीन अमरीकी उपराष्ट्रपति डिक चेनी के भाषण की याद दिलाता है जब उन्होंने इराक के खिलाफ पूर्व-निर्णायक हमले की योजना बनायी क्योंकि सद्दाम हुसैन आतंकवाद का एक प्रमुख प्रायोजक था, उसने अपने परमाणु कार्यक्रम के बारे में झूठ बोला और धोखा दिया था, अपनी जनता का उत्पीड़न किया था जो गरिमा और स्वतंत्रता के जीवन के लायक थे और क्षेत्रीय प्रभुत्त्व की तलाश में गुंडों की तरह व्यवहार कर रहे थे, इत्यादि अगले वर्ष मार्च में, अमरीका ने इराक पर हमला किया। (नोट-- अमरीका ने इराक पर हमले के लिए इन आरोपों को बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया था। आज पूरी दुनिया जानती है कि सद्दाम हुसैन की सरकार के ऊपर अमरीका द्वारा लगाये गये ये आरोप झूठे थे। --अनुवादक)

उस समय सऊदी अरब और इजराइल ने चेनी के भाषण की सराहना की थी और आज इन्होंने ट्रम्प के जेसीपीओए को खत्म करने के फैसले का समर्थन किया। दोनों देशों के लिए, दोहरे नियंत्रण (ईरान और इराक) की अमरीकी नीति एक सुरक्षा बोनस थी। उन्होंने ईरान के अलगाव को खत्म करने की दिशा में जेसीपीओए को उठाया कदम समझा और इजरायल के प्रधान मंत्री बेंजामिन नेतन्याहू और सऊदी के शाही राजकुमार मोहम्मद बिन सलमान श्री ट्रम्प के वास्तविक प्रशंसक हैं।

2015 से, सऊदी अरब यमन में एक महँगे दुस्साहसिक काम में लगा हुआ है जो ईरान के साथ तनाव बढ़ाने वाला है। ईरान ने सीरिया में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी है, उसने सीरियाई सेना के सहयोग के लिए शिया मिलिशिया और इस्लामी क्रान्तिकारी गार्ड कोर के सलाहकारों को वहाँ भेजा है, जिससे इजराइल के साथ तनाव बढ़ रहे हैं। इससे पहले, इजराइली सेनाएँ सीरिया में हथियारों के उन अड्डों या काफिले पर हमला करेंगी जो हिजबुल्ला को मजबूत करने के उद्देश्य के लिए हैं। फरवरी से, गोलन हाइट्स के करीब बुनियादी ढाँचे का निर्माण करने के ईरानी प्रयासों को निशाना बनाने में तेजी आयी है। अमरीका के जेसीपीओए से हटने के फैसले की घोषणा के बाद, ईरान ने गोलान हाइट्स पर रॉकेट बैराज के साथ प्रतिशोध किया जिसके परिणामस्वरूप इजरायल ने भारी प्रतिक्रिया करते हुए सीरिया के अन्दर 70 से अधिक ईरानी लक्ष्यों को निशाना बनाया।

एक निर्णायक बिन्दु

अब तक ईरान की प्रतिक्रिया उदारवादी रही है लेकिन श्री रूहानी के पास घुसपैठ के लिए बहुत कम जगह है क्योंकि ईरान में इस समझौते के आलोचक कट्टरपंथी तत्त्व जमीन हासिल कर रहे हैं। वह यह देखने का इंतजार कर रहा है कि रूस और चीन के साथ यूरोपीय संघ, जेसीपीओए को बचा सकता है जिसने 2015 में तेल निर्यात को 10 लाख बैरल से बढ़कर 26 लाख कर दिया है और तेल अन्वेषण, विमानन जैसे क्षेत्रों में पश्चिमी वस्तुओं और प्रौद्योगिकियों को पहुँचने की अनुमति दी है। ईरानी अधिकारियों के एक सम्बोधन में, सर्वोच्च नेता अयातुल्लाह खमेनी ने कहा कि उन्हें उम्मीद है कि ई-3 के लिए ईरान के मिसाइल परीक्षण और क्षेत्रीय व्यवहार की आलोचना को रोकने और ठोस आर्थिक गारन्टी को सुनिश्चित करने लिए ई-3, रूस और चीन यूएन सुरक्षा परिषद में इस मामले को उठायेंगे।

हालाँकि, संकेत आशाजनक नहीं हैं क्योंकि बड़ी यूरोपीय कम्पनियाँ अमरीकी प्रतिबन्धों को बर्दाश्त नहीं कर सकती हैं; टोटल एंड एयरबस पहले से ही अपने को कई अरब डॉलर सौदों से बाहर खींच रहे हैं। ईरान जेसीपीओए की हत्या का आरोप अपने ऊपर नहीं लेना चाहता है लेकिन जल्द ही इसे तय करने की आवश्यकता होगी कि यह उसके गहन निरीक्षण की पद्धति का पालन कब तक जारी रखेगा। इस इलाके में जिस दिन वह इजराइल और सऊदी अरब की ओर अपनी प्रतिक्रियाओं की चेतावनी देगा, तो यह बड़े बदलावों की शुरुआत हो सकता है। जैसा कि जेसीपीओए के बढ़ते सत्यापन प्रावधानों के बिना, ईरान द्वारा परमाणु अप्रसार संधि के पूर्ण अनुपालन को सत्यापित करना अधिक कठिन है, लेकिन जब ईरान जेसीपीओए का पूरी तरह पालन कर रहा है तो ईरान के ऊपर हमले को उचित ठहराना मुश्किल है। अमरीकी निर्णय संतुलन को बिगाड़ सकता है।

(द हिन्दू से साभार)

अनुवाद-- विक्रम प्रताप